भारतीय चिति
और
गांधी चिंतन
डॉ. जयप्रकाश सिंह

भारतीय चिति
और
गांधी चिंतन

डॉ. जयप्रकाश सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय

प्रकाशक

"राष्ट्रीय छात्रशक्ति"

26, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग

नई दिल्ली-110002

'राष्ट्रवादी हुए बिना अंतर्राष्ट्रीयवादी होना असंभव है। अंतर्राष्ट्रीयता तभी संभव है जब राष्ट्रवाद एक सच्चाई बन जाए।'

–महात्मा गांधी, यंग इंडिया, 18 जून 1925

'मेरी दृष्टि में गोवध और मनुष्य वध एक ही बात है... मैं मुसलमानों के लिए यथाशक्ति दुःख सहने के लिए तैयार हुआ तो इसका कारण स्वराज्य प्राप्ति की छोटी बात थी ही, गाय बचाने की बड़ी बात भी उसमें थी।'

– संपूर्ण गांधी वांङ्मय, खंड –25, पृ...552

प्रस्तावना

पिछली सदी के महानायकों में से एक मोहनदास करमचंद गांधी को देश ने महात्मा के रूप में आदर दिया है। बीसवीं सदी का तीसरा और चौथा दशक तो भारत के राजनैतिक परिदृश्य में भारतीयता के प्रतिनिधि स्वर के रूप में महात्मा गांधी सर्वदूर विद्यमान हैं। देश और दुनिया इसे एक चमत्कार की तरह देख रही है और इस चमत्कार का आधार है उनका नैतिक व आत्मबल।

बीसवीं सदी का मुहावरा था भारत गांवों में बसता है और गांवों में बसने वाले इस भारत को बखूबी पहचानते थे। यह भारत भी लंगोटी वाले गांधी में अपना प्रतिबिम्ब देखता था और उनके रचनात्मक कार्यक्रम से उसके अंदर बदलाव की उम्मीद जगी थी। उसे विश्वास था कि गांधीजी भारतीयता में रचे-पगे आदमी हैं और देश की एकता-अखण्डता और सांस्कृतिक मूल्यों पर समझौता नहीं करेंगे।

महात्मा गांधी इस विश्वास पर खरे उतरे। स्वतंत्रता के प्रश्न पर उन्होने 4 मई 1940 को कांग्रेस नेताओं से कहा – मैं इन्तजार करने के पक्ष में हूं। भारत की स्वाधीनता एक जीवित वस्तु है। उसके एवज में हमें कोई नकली चीज नहीं चाहिये। सारा संसार आज नये जन्म के दर्दों के बीच से गुजर रहा है। अस्थायी लाभ के लिये यदि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से की समझौता करेगी तो उसका परिणाम गर्भपात के समान होगा।

इसके विपरीत 21 जून 1940 को वर्धा में हुई कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने स्वीकार किया – वर्किंग कमेटी युद्ध प्रयत्नों में सहयोग देने के सम्बंध में गांधी जी के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकी। पं. नेहरू ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा – यह पहला अवसर है जब गांधीजी ने एक रास्ता अख्तियार किया और कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने दूसरा। गांधीजी ने वर्किंग कमेटी को उसकी आत्मनिर्भरता की भावना पर बधाई दी और कहा - जिन लोगों को अनेक वर्षों से अपने साथ ले चलने में गर्व का अनुभव करता था अब उनके ऊपर मेरे शब्दों का प्रभाव नहीं रहा।

प्रसिद्ध अमेरिका पत्रकार लुई फिशर ने उस समय गांधीजी की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा – करोड़ों आदमी उनकी पूजा करते थे, अगणित व्यक्ति उनकी चरण-धूलि को अपने मस्तक पर लगाकर अपने को धन्य समझते थे। लोग उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे, किन्तु

उनकी शिक्षाओं से मुंह मोड़ते थे। वे उनकी देह को पावन समझते थे किन्तु उनके व्यक्तित्व को खण्डित करते थे। लोग उनके वाह्य-आवरण पर श्रद्धा के फूल चढ़ाते थे किन्तु उनकी शिक्षाओं को पैरों से कुचलते थे। उनके सिद्धांतों को ठुकरा कर लोग उनकी जय बोलते थे।

15 अगस्त 1947 को अपने ऐतिहासिक भाषण में प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने कहा – हमारे महान नेता ने जिन ऊंचे सिद्धांतों की हमें शिक्षा दी है, हमें सदा उन पर कायम रहना है। हमारे सौभाग्य से गांधीजी हमारे बीच में हैं। अपनी उत्तरोत्तर प्रगति के लिये हमें उनसे सदा प्रोत्साहन और मार्गदर्शन मिलेगा। लेकिन इस वाग्जाल को चीरते हुए कांग्रेस वर्किंग कमेटी में अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने जो प्रश्न खड़ा किया – निस्संदेह गांधीजी सदा हमारे साथ हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम भी गांधी जी के साथ हैं।

वस्तुतः यह ऐसा यक्षप्रश्न है जो आज भी अनुत्तरित है। इस एक प्रश्न में वे तमाम सवाल शामिल हैं जो तब भी और आज भी भारतीय जनमानस को मथ रहे हैं। यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं महात्मा गांधी के कथ्य और लेखन में मिलता है किन्तु उनके बाद उनके विचारों को समाजवादी-सेकुलर खांचे में कसने का प्रयास किया गया। भारतीयता के साफ-सुथरे आइने में गांधी को देखने बजाय औपनिवेशिकता के बौद्धिक बोझ के प्रिज्म से देखने पर विपथित गांधी का एक ऐसा विद्रूप उपस्थित हुआ जो गांधी की दूसरी ही छवि निर्मित करता है। संभवतः यही सत्ता को अभीष्ठ भी था।

भारतीयता के आइने में गांधी सहजता से समझ आते हैं। वे भक्तिकालीन भारतीय मानस का एक छोर हैं। भक्तिकालीन भारतकी अपनी खूबियां और खामियां हैं। वह खूबियां और खामियां गांधी में भी आसानी से देखी जा सकती है। यहां पर इस बात को भी समझने की जरूरत है कि भक्तिकाल से इस देश के इतिहास-भूगोल का प्रारंभ नहीं होता। यह एक पड़ाव भर है। एक ऐसा पड़ाव जिसमें राजनीति के भार को संस्कृति ढो रही थी। यह संकुचन का काल है, पराभव का काल है। स्खलन के इस कालखंड ने तमाम नकारात्मकताओं के बावजूद कुछ मूल्य गढ़े,स्थापितकिए, गांधी में वह सारे मूल्य अपनी उत्कृष्टता के साथ विद्यमान हैं।

गांधी को इस भक्ति परम्परा के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही ठीक ढंग से समझा जा सकताहै। उन्हें एक व्यक्ति के बजाय, परम्परा के एक सिरे के रूप में समझने पर अधिक सार्थक परिणाम निकल सकते है। फिलहाल स्थिति इसके उलट है। उनके मूल्यांकन की प्रक्रिया से उनका देश-काल गायब कर दिया गया है। संदर्भ औरप्रसंग से रहित विश्लेषण भ्रम ही पैदा

कर सकते हैं। वही हो भी रहा है।

गांधी-चितन के साथ दूसरी बड़ी समस्या है कि उनके व्यक्तित्व से सुविधाजनक सत्य के चुनाव का चलन चल पड़ा है। उन्हें समग्रता में देखने के धैर्य, श्रम और साहस का नितांत अभाव दिखता है। इसलिए सभी अपनी हिस्से के गांधी का चुनाव कर लेते हैं। और यह सुविधाजनक चुनाव उनके बारे में अनेक तरह के भ्रम खड़े कर देताहै।

गांधी चिंतन के साथ जुड़ी हुई तीसरी समस्या यह है कि उनका समर्थन और विरोध अतिवादिता का शिकार है। गांधी के व्यक्तित्व की बुनावट से परिचित लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि गांधी जीवनभर प्रयोगशील रहे। प्रयोगों के कारण उनमें गतिशीलता है। जिसे वह सत्य के साथ प्रयोग कहते थे, वस्तुतः वे स्वयं अपने साथ उन्हें आजमा रहे थे। सत्य की कसौटी पर खुद को आंक रहे थे। और इस कसौटी पर उन्होंने जितनी गहरी और चमकदार रेखा उन्होंने उकेरी, स्वतंत्र भारत में कम ही लोग उसके साथ अपनी तुलना का साहस करेंगे।

इसपरिदृश्य में गांधी चिंतन को समझते समय, उनकी प्रासंगिकता की खोज-बीन करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि उनका विश्लेषण एक स्थिर तत्व के रूप में नकिया जाए। वह प्रयोगशील थे, इसलिए उनके संदर्भों में यह प्रश्न बहुतमहत्वपूर्ण हो जाता है कि यदि गांधी आज जीवित होते तो समसामयिक समस्याओं कासामना कैसे करते? यदि आज की तरह युवा और शिक्षित भारत उन्हें मिला होता तो इस बात की बड़ी संभावना है कि स्वतंत्रता-संग्राम के लिए उनकी रणनीतियां भी अलग ढंग की होतीं! लेकिन यह फिर भी निश्चित है कि उनकी रणनीत भारतीय मूल्यों से उतनी ही गुंथी होती, यात्रा का मार्ग भले ही बदला होता, प्रस्थान बिन्दु अपरिवर्तित रहते।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद का इतिहास स्वतंत्र भारत की यात्रा के साथ-साथ चलता है। वह जिस विचार को लेकर निरंतर प्रवाहमान है, वह उसी शाश्वत भारतीयता पर टिका है जिसके आधुनिक भाष्यकारों में महात्मा गांधी एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। इसलिये दो ऐतिहासिक अवसरों पर यह विचार प्रवाह उपरोक्त कसौटी पर एक चमकीली रेखा खींचने में सफल रहता है। यह अवसर हैं आपातकाल के विरुद्ध संघर्ष और रामजन्मभूमि आन्दोलन। दोनों बार गांधी के नाम पर सत्ता भोगने वाले लोग हिंसा और अनैतिकता के पक्ष में खड़े थे, भारतीय मानस के विरुद्ध थे, हमलावर थे। दोनों ही अवसरों पर अभाविप और उससे वैचारिक साम्य रखने वाले संगठन अहिंसा और सत्याग्रह का प्रयोग कर नकारात्मक

शक्तियों का प्रतिकार करने में सफल हुए हैं।

गत वर्ष महात्मा गांधी की सार्द्धशती के अवसर पर देश यह अपेक्षा कर रहा था कि गांधीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के उन अनछुए आयामों का अवगाहन कर नये परिप्रेक्ष्य में उनके अवदान को रेखांकित किया जाय। राष्ट्रीय छात्रशक्ति के लिए इस उद्देश्य को लेकर गांधी चिंतन के गहन अध्येता डॉ. जयप्रकाश सिंह ने लेखों कीएक श्रृंखला लिखी जिसे राष्ट्रीय छात्रशक्ति में पूरे वर्ष छापा गया। शिक्षा जगत में इस श्रृंखला को काफी सराहना मिली। पाठकों की निरंतर मांग के चलते इसे पुस्तकाकार में संकलित करने का निश्चय हुआ। परिणामस्वरूप यह संग्रह आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

आशुतोष भटनागर
संपादक, राष्ट्रीय छात्रशक्ति
मकर संक्रांति, सं. 2076 वि.
नयी दिल्ली

विषय - सूची

भारतीय चिति और गांधी चिंतन
लेखक : डॉ. जयप्रकाश सिंह

प्रकाशक
राष्ट्रीय छात्रशक्ति
26, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग.
नयी दिल्ली – 110002
दूरभाष : 011 – 23216298
ईमेल :rashtriyachhatrashakti@gmail.com
वेबसाइट : www.chhatrashakti.in

प्रथम संस्करण
मकर संक्रांति, सं. 2076 वि
14 जनवरी 2020

मूल्य : ₹40/-

मुद्रण :
ओशियन ट्रेडिंग कं.,
132 एफ. आई. ई.,
पटपड़गंज इण्डस्ट्रियल एरिया,
नयी दिल्ली - 110092

लेखकीय

महात्मा गांधी को समझने के सूत्र पिछले कुछ समय में जानबूझकर जटिल बना दिए गए हैं। इस उलझाव के पीछे समझ की सीमाएं तो हैं ही। राजनीतिक-वैचारिक पूर्वाग्रहों ने भी गांधी का गुत्थी बनाने में अहम भूमिका निभायी है। इस कारण, गांधी को समझने-परखने के प्रयास अपने-अपने हिस्से की खोज बनकर रह जाते हैं। गांधी को सम्पूर्णता में समझने के लिए अपने खांचे से बाहर निकलने का जो सामर्थ्य चाहिए, राजनीतिक सुविधा को छोड़ने की जो प्रतिबद्धता चाहिए, उसका अभाव ही दिखता है।

टुकड़ों में बंटे गांधी चिंतन की स्थिति तब और भी अजीब हो जाती है, जब किसी एक टुकड़े को ही संपूर्ण गांधी कहकर परोसा जाता है। और उसके उलट गांधी में कुछ देखना कुफ्र की श्रेणी में डाल दिया जाता है। मसलन गांधी की बात पंथनिरपेक्षता के सदंर्भ करने का चलन ही बन गया है, बना दिया गया है, लेकिन गाय, गांव, राष्ट्रवाद, भाषा सम्बंधी उनके विचारों का उल्लेख भी नहीं किया जाता।

वर्तमान राजनीतिक आख्यान के अनुसार एक दूसरे के उलट समझी जाने वाली पंथनिरपेक्षता और गोमाता के प्रश्न को यदि एक साथ रखकर समझा जाए, तो गांधी और उनके चिंतन की एक अलग ही तस्वीर उभर कर सामने आती है। गाय के प्रश्न को स्वराज्य के प्रश्न से भी अधिक महत्वपूर्ण मानने वाले गांधी के नाम पर बाद में चलने वाले गांधीवादी चिंतन से कैसे गायब कर दिया है, यह अपने आप में एक शोध का विषय है।

गांधी के सर्वधर्म समभाव के आग्रह के रास्ते पर आगे बढ़ते समय उनके द्वारा किए गए मतांतरण के तीखे विरोध को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। विश्व कल्याण के सिद्धांत को राष्ट्रवाद के उनके प्रबल आग्रह के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। और हां, इस चिंतन यात्रा में गांधी के भाषायी आग्रह पर चर्चा जरुरत सर्वाधिक होगी। गांधी ने मातृभाषा में अपने बच्चों को शिक्षा ने देने वाले अभिभावकों को देशद्रोही तक कह दिया था। यदि आज ऐसी कोई घोषणा कर दे तो राजनीति-मीडिया-अकादमिया उस व्यक्ति को ही देशद्रोही घोषित कर देंगे।

टुकड़े - टुकड़े की राजनीति करने वाले वर्ग को सटीक उत्तर गांधी को सम्पूर्णता में समझकर ही दिया जा सकता है। प्रस्तुत आलेख संग्रह इसी दिशा में किया गया प्रयास है। इसमें गांधी की प्राथमिता सूची में सबसे ऊपर रहने वाले विषयों के संदर्भ में गांधी

के आकलन का प्रयास किया गया है। ये सभी आलेख प्रतिष्ठित वैचारिक पत्रिका राष्ट्रीय छात्रशक्ति के लिए श्रृंखलाबद्ध रूप से लिखे गए थे। यह सभी आलेख पत्रिका में 'आकलन के आधार' स्तम्भ के अंतर्गत प्रकाशित हुए थे।

गांधी को समकालीन परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए एक श्रृंखला लिखने की प्रेरणा राष्ट्रीय छात्रशक्ति के सम्पादक आशुतोष भटनागर ने दी थी। राष्ट्रीय छात्रशक्ति की टीम भी लेखन में सातत्य बनाए रखने के लिए प्रेरित करती रही। सभी का आभार ! इसमें गांधी से सम्बंधित अधिकांश महत्वपूर्ण विषयों का समावेश हो गया है। जो विषय छूट गए हैं उनके लिए कोई सुयोग बना तो फिर लेखन यात्रा आगे बढ़ेगी। गांधी को सनातन परिप्रेक्ष्य में देखने का यह प्रयास परिवेश में पसरी बौद्धिक जड़ता को तोड़ने में सफल होगी और आपकी प्रतिक्रियों इस चिंतन यात्रा का और परिष्कृत करेंगी, इसी आशा के साथ।

–डॉ. जयप्रकाश सिंह

14 जनवरी. 2020, मकर-संक्रांति, धर्मशाला

लोकधर्मी-प्रयोगधर्मी गांधी को इसी दृष्टि से परखें

यह एक रोचक विषय है कि भारतीय सार्वजनिक विमर्श में गांधी की उपस्थिति हर जगह महसूस की जाती है, हर पक्ष उनके विचार और व्यक्तित्व पर चर्चा करता है, लेकिन कोई भी पक्ष उन्हें पूर्णतः अपना नहीं मानता। उन्हें विरोधी खेमे में रखता है। कट्टर मुसलमानों के लिए वह चतुर हिंदू नेता थे, तो कुछ हिंदू उन्हें मुसलमानों का पक्षधर मानते रहे हैं। हरिजनों के लिए वह सवर्णवादी थे, तो सवर्णों के लिए हरिजनवादी। साम्यवादियों के लिए वह 'पूंजीवादी एजेंट' थे और पूंजीवादी उन्हें मशीनों का विरोध कर समानता का स्वप्न देखने वाला साम्यवादी मानते थे। संतों के लिए वह एक व्यावहारिक नेता थे और राजनेताओं के लिए अव्यावहारिक संत। आधुनिकतावादी उन्हें पिछड़ेपन का प्रतीक मानते हैं और पुरातत्वपंथियों के लिए वह धर्म भ्रष्ट करने वाले परिवर्तनों के वाहक रहे हैं। अकादमि जगत के लोगों के लिए वह कम पढ़े-लिखे व्यक्ति और सामान्य व्यक्तियों के लिए उच्च कोटि के दार्शनिक और साधक थे। आखिर एक ही व्यक्ति के प्रति इतने विरोधाभासी निष्कर्ष कैसे निकल सकते हैं ? यह एक जटिल प्रश्न है और गांधी के संदर्भ में निकाले जाने वाले निष्कर्षों की एकांगिकता की तरफ संकेत भी। उन्हें जिन प्रचलित दृष्टिकोणों या उपलब्ध उपकरणों के जरिए समझने की कोशिश की जाती रही है, वे बौने साबित हुए हैं। अभी तक गांधी को उनके मौलिक-लोकधर्मों और प्रयोगधर्मी परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने के बजाय प्रक्षेपण पद्धति पद्धति से देखने समझने की कोशिश अधिक हुई है।

यदि किसी विचार या व्यक्ति को प्रक्षेपण पद्धति से समझने की कोशिश की जाती है, तो गलत निष्कर्ष निकलने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक अध्येता अपने पूर्वाग्रहों का संबंधित व्यक्ति या विचार पर प्रक्षेपण करता है और वही निष्कर्ष निकाल लेता है, जो वह निकालना चाहता है। गांधी जैसे व्यक्ति के संदर्भ में तो गलत निष्कर्ष की संभावना और भी बढ़ जाती है, क्योंकि उनके चिंतन का कैनवास बहुत बड़ा है और मौलिक भी। उनकी विशालता सभी चिंतन धाराओं को स्पर्श करती है, लेकिन उनकी सत्य के साथ

प्रयोग करने की आदत, सभी पक्षों द्वारा उन्हें गलत समझे जाने की संभावना को बढ़ा देती है।

गांधी स्वयं में एक अलग 'टाईप' हैं और उस 'टाईप' के आधारभूत तथ्यों को समझे बिना उनकी सीमाओं और संभावनाओं का सम्यक आकलन नहीं किया जा सकता। गांधी अधेड़ उम्र में जब भारत वापस आते हैं, तो गोखले की सलाह पर लगभग पांच वर्ष भारतीय लोक को समझने में लगाते हैं। इस अवधि में लोक के जरिए सत्य से साक्षात्कार करने की कोशिश कर रहे थे और समाज के बारे में अपनी अवधारणाओं को गढ़ रहे थे। बाद में भी वह लोक से वह गहरे से जुड़े रहे यानी उनकी अवधारणाओं का स्रोत किताब और शास्त्र से कहीं अधिक लोक था। लोक पर इस निर्भरता के कारण ही उनकी संकल्पनाओं में ऐसी कमजोरी के दर्शन होते हैं, जो लंबे समय से आक्रांत समाज में हो सकते हैं। भारतीय समाज की विशिष्ट संरचना तथा सनातन आधारों पर आधिष्ठित संस्कृति के कारण लंबी पराधीनता के बाद भी तत्कालीन समाज में कुछ परंपराएं इतनीस्वस्थ रूप में प्रवाहमान थी कि उनके शुद्ध तत्त्व से परिचित हुआ जा सकता है। दूसरी तरफ कुछ परंपराएं सड़ांधता का शिकार हो चुकी थीं कि उन्हें आसानी से त्यागा जा सकता था। इन दोनों छोरों के बीच बहुत कुछ ऐसा था, जिनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता अथवा उसके बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता था। इनके बारे में टिप्पणी करने के लिए पर्याप्त शोध की आवश्यकता थी। गांधी ने स्वस्थ को स्वीकारा, अस्वस्थ को नकारा एवं कुछ को शोधन किया। स्वस्थ और अस्वस्थ को पहचानने-स्वीकारने-नकारने में वह काफी हद तक सफल रहे, लेकिन अवशेष रूप में उन्हें आंशिक सफलता ही मिली।

उदाहरणतः राजनीति और धर्म के अंतर्सबंधों के बारे में उनकी संकल्पना को लिया जा सकता है। वह मानते थे कि राजनीति एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कार्य है। राजनीति और धर्म का पृथक्करण से अंततः राजनीति स्वार्थी हो जाती है और धर्म पंगु बन जाता है। परंतु राजनीति की संपूर्ण जटिलताओं स्वीकार करते हुए भी धार्मिक बना रहा जा सकता है, वह इस बात को स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने उनकी राजनीति 'साम' तक सीमित रखी। 'दाम', 'दंड', 'भेद' के बारे में उनके मन में हिचक बनी रही। इसी हिचक के कारण 'गीता' तो आजीवन उनकी मार्गदर्शक बनी रही, लेकिन जिस महाभारत का यह हिस्सा है, उसे उन्होंने मानसिक-मनोवैज्ञानिक युद्ध करार दिया। वह इस बात को स्वीकार नहीं कर सके कि कृष्ण जैसा तत्त्वदर्शी, धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए 'युद्धाय कृतनिश्चय' के लिए प्रेरित कर सकता है।

यदि इसी ग्रंथ के शांतिपर्व में उल्लिखित 'राजधर्म' की महत्ता और जटिलता से उनका

पूर्ण परिचय हुआ होता, तो संभतया यह हिचक टूट जाती। ऐसा न हो पाने के दो कारण रहे होंगे। पहला गांधी की लोकधर्मिता और दूसरा भारतीय संकल्पनाओं के विस्तृत शोध प्रबंधों का अभाव। गांधी लोक जीवनदर्शन और जीवन शैली से तत्त्व खींचकर संकल्पनाएं गढ़ते थे। उस समय लोकजीवन में राजधर्म के प्रति उदात्त भाव तो बचा हुआ था, लेकिन हिंसा के प्रति विराग घृणा के स्तर तक विद्यमान था। इस कारण उनकी राजनीतिक अवधारणा शिखर तक नहीं पहुंच सकी। दूसरे लोकधर्मी होने के बावजूद गांधी अध्ययन भी खूब करते थे। 1924 की उनकी जेल डायरी उनकी अध्ययन क्षमता का प्रमाण है। अध्ययन की इस प्रवृत्ति के बावजूद यदि वह राजनीति की भारतीय संकल्पना को सम्यक ढंग से नहीं समझ सके तो उसका कारण भारतकेंद्रित अध्ययन का शैशवावस्था में होना था। यदि उन्हें भारतीय संकल्पनाओं पर विस्तृत सामग्री उपलब्ध हो पाती, तो शायद उनकी वैचारिक यात्रा पूर्णता को प्राप्त हो पाती। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनकी इन सीमाओं के बावजूद गांधी ने भारतीय संकल्पनाओं को सामाजिक रूप देने और उन्हें सार्वजनिक विमर्श में प्रतिष्ठित करने का भागीरथ प्रयास किया था।

लोकधर्मिता के साथ प्रयोगधर्मिता भी विशिष्ट गुण था। बने-बनाए सत्यों के बजाय वह स्वनिर्मित अनुभूत सत्यों पर विश्वास करते थे और 'सत्य के साथ प्रयोग' करते रहे। एक स्पष्ट सभ्यतागत समझ के बावजूद वह व्यावहारिक धरातल पर निरंतर प्रयोगधर्मी रहे। इसीलिए एक तरफ वह 1909 में लिखी गई हिंद स्वराज में अपने जीवन के अंतिम पड़ाव पर केवल एक शब्द बदलने के लिए तैयार हुए थे। दूसरी तरफ एक चैरी-चैरा कांड के कारण जिस गांधी ने पूरे असहयोग आंदोलन को ठप कर दिया था, वही गांधी भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान हुई राष्ट्रव्यापी हिंसा के खिलाफ मौन रहे। इसी तरह जीवन के सांध्य काल में ब्रह्मचर्य को लेकर उनके प्रयोग भी उनकी स्वीकार्यता और छवि दोनों को प्रभावित कर रहे थे, फिर भी उन्होंने प्रयोगधर्मिता के लिए आवश्यक साहस को बनाए रखा।

गांधी की लोकधर्मी और प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति उन्हें विशिष्ट और गतिशील बनाती है। इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिबद्धता के कारण वह महात्मा कहलाए। इस विशेषण में उनका आकलन भी छिपा हुआ है। रूढ़ मान्यताएं उन्हें पूजनीय बना देती हैं या दयनीय। उन्हें उत्कृष्ट पूर्णता या निकृष्ट अपूर्णता का प्रतीक मानने के बजाय पूर्णता की तरफ अग्रसर एक अपूर्ण, लेकिन प्रतिबद्ध यात्री मानना ज्यादा न्यासंगत होगा।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के परिप्रेक्ष्य में गांधी

भारतीय इतिहास जिस दौर को 'गांधी-युग' कहता है, वह वैचारिक दृष्टि से रूमानियत और सम्मोहन का का कालखंड है। उस समय कुछ संकल्पनाएं पूरी दुनिया को सम्मोहित किए हुए थीं। आम आदमी के बरक्स नेतृत्वकारी वर्ग इनका असर अधिक था। इसके कई कारण थे। आम आदमी के सामने यथार्थ की इतनी कठोर भूमि थी कि वह चाहकर भी विचारों की हवाई उड़ान अधिक समय के लिए नहीं भर सकता था लेकिन नेतृत्वकारी वर्ग के पास इसके लिए आवश्यक अवकाश और संसाधन थे। सम्मोहन का एक अन्य कारण यह भी था कि ऐसी संकल्पनाएं आधुनिकता और वैज्ञानिकता के कलेवर में परोसी गई थीं। ऐसे में उनको अपनाना, आगे बढ़ाना खुद को आधुनिक और वैज्ञानिक साबित करने के समान था और उनका विरोध करना खुद को पुरातनपंथी बताने जैसा था। पुरातनपंथी होने का खतरा कोई न तब उठाना चाहता था और न ही अब। आधुनिकता की संकल्पना को इस तरह गढ़ा गया था कि विचारों के सच का सरोकार हासिए पर पहुंच गया और परम्परा विरोधी होना ज्यादा महत्पवूर्ण हो गया था। इसके साथ ही ये संकल्पनाएं एकदम नई थीं, यथार्थ के धरातल पर इनका आकलन होना अभी बाकी था, कमियों का सामने आने की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई थी, चुनौती देने के धरातल तैयार नहीं हुए थे, इसलिए इन संकल्पनाओं में हर जगह अच्छाई का दर्शन होना स्वाभाविक था।

गांधी-युग की ऐसी ही सर्वाधिक-सम्मोहक संकल्पना थी-साम्यवाद और उससे सम्बंधित अंतर्राष्ट्रीयतावाद का नारा। गांधी ने साम्यवाद को उसके हिंसक, अमानवीय और अप्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण सिरे से नकारा ही। इससे भी भी बड़ी बात उनके द्वारा राष्ट्रवाद को अंतर्राष्ट्रीयतवाद की पूर्वशर्त के रुप में स्वीकार किया जाना था। गांधी राष्ट्रवाद को मानवता की बेहतरी के लिए एक आवश्यक उपकरण मानते थे। इसी कारण उन्होंने राष्ट्रवाद को अंतर्राष्ट्रीयतावाद की 'एंटी-थीसिस' मानने से इनकार कर दिया। वह मानते थे कि सच्चा राष्ट्रवादी ही अंतर्राष्ट्रीय चेतना के अधिक करीब पहुंच सकता है क्योंकि राष्ट्रवाद

सामूहिकता की एक भावना पैदा करती है, जिसकी अंतिम परिणति अंतर्राष्ट्रीयतावाद के रूप में होती है। गांधी 18 जून 1925 को यंग इंडिया में लिखते हैं कि ' राष्ट्रवादी हुए बिना अंतर्राष्ट्रीयवादी होना असंभव है। अंतर्राष्ट्रीयता तभी संभव है जब राष्ट्रवाद एक सच्चाई बन जाए।'

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गांधी उन दृष्टिकोणों और तथ्यों से अनभिज्ञ थे, जिनके आधार पर उस समय राष्ट्रवाद की आलोचना की जा रही थी। वह जानते थे कि राष्ट्रवाद की यूरापीय संकल्पना ने ही उपनिवेशवाद को जन्म दिया है। वह यूरोपीय देशों के बीच चल रही गलाकाट प्रतिस्पर्धा और युद्धों का कारण भी उनके राष्ट्रवाद की संकल्पना में ढूंढते हैं लेकिन वह भारतीय राष्ट्रवाद को अलग मानते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय राष्ट्रवाद मात्र राजनीतिक नहीं है, वह सांस्कृतिक भी है। भारतीय राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक संदर्भों की तरफ संकेत करते हुए वह 18 जून 1925 को यंग इंडिया वह लिखते हैं कि 'राष्ट्रवाद बुराई नहीं है। आधुनिक राष्ट्रों की संकीर्णता, स्वार्थपरता और एकमेवता बुराई है। सभी दूसरों की कीमत पर लाभ कमाना चाहते हैं और दूसरे का विनाश कर अपना विकास करना चाहते हैं। भारतीय राष्ट्रवाद का रास्ता इससे पृथक है। भारत स्वयं की पूर्ण अभिव्यक्ति और मानवता की सेवा के लिए स्वयं को संगठित करना चाहता है।'

वह राष्ट्रवाद को मानवता की सेवा उपकरण ठहराते हुए यंग इडिया के उपरोक्त अंक में लिखते हैं कि ' ईश्वर ने मुझे भारतीयों के बीच जन्म दिया है। यदि मैं उनकी सेवा नहीं करता तो अपने स्रष्टा के प्रति ईमानदार नहीं हो सकता। यदि मैं यह नहीं जानता कि उनकी सेवा कैसे की जा सकती है तो मुझे कभी भी इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि मानवता की सेवा कैसे की जा सकती है।' इसी बात को आगे बढ़ाते हुए वह हरिजन के 17 जनवरी 1933 के अंक में लिखते हैं कि ' सार्वजनिक जीवन में 50 वर्ष व्यतीत करने के बाद मैं मेरा इस सिद्धांत में विश्वास बढ़ गया है कि राष्ट्र की सेवा, विश्व की सेवा में कोई असंगति नहीं है।

यंग इंडिया के 5 फरवरी 1925 के अंक में गांधी इस बात का पुनः संकेत देते हैं कि वह भारतीय राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद मानते थे। वह लिखते हैं कि ' भारत मूलरूप से एक कर्मभूमि है भोगभूमि नहीं।' सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अपनी मान्यता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए वह 6 अप्रैल 1921 को यंग इंडिया में लिखते हैं कि- मेरी देशभक्ति मेरे धर्म के अधीन है। मैं भारत से वैसे ही सम्पृक्त हूं जैसे एक बच्चा अपनी मां के स्तनों से, क्योंकि मैं महसूस करता हूं इसने मुझे आध्यात्मिक पोषण प्रदान किया है। भारत ने मुझे वह परिवेश प्रदान किया है, जिसमें मेरी उच्चतम आकांक्षाएं अभिव्यक्त हो सकती है।'

गांधी का राष्ट्रवाद के प्रति यह दृष्टिकोण उस समय के राजनीतिक आख्यान के लिए एकदम नई परिघटना थी। गांधी ने राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक धरातल प्रदान कर इसके उदात्त स्वरूप को लोगों के सामने रखा। वह भारतीय राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद बताकर उसे राजनीतिक विमर्श के केन्द्र में खड़ा कर देते हैं। सांस्कृतिक संदर्भों में राष्ट्रवाद को परिभाषित कर गांधी न केवल एक उदात्त भारतीय पहचान गढ़ते हैं बल्कि स्वतंत्रता आंदोलन के लिए एक नया और व्यापक धरातल भी तैयार करते हैं।

उस समय जब अधिकांश नेता स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के वैश्विक मूल्य के आधार पर भारत को स्वतंत्र किए जाने का वकालत कर रहे थे, गांधी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उदात्त आधार पर भारत को स्वतंत्र किए जाने की मांग कर रहे थे। गांधी के अनुसार- ' मुझे अनुभूति होती है कि भारत की भूमिका अन्य देशों से पृथक है। भारत धार्मिक श्रेष्ठता के लिए सर्वाधिक योग्य है। इस देश ने स्वैच्छिक रूप से आत्मशुद्धि की जिस प्रक्रिया को आत्मसात किया है, उसकी दुनिया में कोई अन्य मिसाल नहीं मिलती।' (स्पीचेज एंड रायटिंग्स आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ 405)

राष्ट्रवाद को राजनीतिक-आख्यान बनाकर, स्वतंत्रता आंदोलन में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को केन्द्रीय विमर्श बनाकर गांधी ने भारतीय पहचान और भावधार की जो सेवा की है, उसका आकलन होना अभी बाकी है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के परिप्रेक्ष्य में गांधी का आकलन राष्ट्रवाद और गांधी दोनों के लिए जरूरी है।

पहचान की पहली प्राथमिकता: गांधी और गाय

भारतीय संस्कृति में गाय को सदैव से ही केन्द्रीय भूमिका प्राप्त रही रही है। इस केन्द्रीय भूमिका के संदर्भ में भारतीय जनमानस में हमेशा से ही एक साफ समझ रही है। इस केन्द्रीय भूमिका और महत्ता को रेखांकित करते हुए ऋषि प्रसिद्ध गोसूक्त में कहता है कि -

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदिति वधिष्ट।

आशय यह है कि गाय रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहन, अमृत की नाभि है। उस गाय का वध न करें।

इस सूक्त में प्रकट हुई भावना के अनुरूप ही इस देश में कभी भी गाय को दूध देने वाले पशु के रूप में नहीं स्वीकार किया गया, बल्कि पंचगव्यों से प्रकृति और मनुष्य को हर स्तर पर पोषित करने वाली अमृत की नाभि के रूप में देखा गया। इसी कारण माता का उदात्त और आत्मीय सम्बोधन गाय को प्राप्त हुआ। गाय को केवल पशु के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति के प्रति भारतीय प्रज्ञा यहां के लोगां को सावधान करती रही है। रघुवंश में महाराजा दिलीप को सावधान करते हुए नन्दिनी कहती है कि -

ना केवलां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां भजे।

(प्रसन्न रहने पर सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली मुझको केवल दूध देने वाली मत समझना।)

भारतीय जनमानस गाय को कल्याणकारी प्रज्ञा और परम्परा के ऊर्जास्रोत के रूप में ग्रहण किया और अपनी इस तरह गाय भारत की पहचान और प्राथमिकता बन गई। भारत गाय के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगाता रहा है। इस्लामिक आक्रमणों की लम्बी समयावधि में गाय को निशाना बनाने के कोशिशें होती रहीं, लेकिन गाय को लेकर भारतीय जनमानस में श्रद्धा और जनसंवेग इतना प्रबल था कि उनकी उपेक्षा करके शासन करना असम्भव था। इसीलिए कई आक्रांताओं को गोवध पर प्रतिबंध लगाना पड़ा।

गाय के प्रति भारतीय जनमानस की इस स्पष्ट समझ पर कुहासा डालने के विधिवत प्रयास औपनिवेशिक काल में प्रारंभ हुए। अपनी विशिष्ट दृष्टि के कारण तत्कालीन सत्ता गाय को आर्थिक दायरे से आगे बढ़कर सांस्कृतिक संदर्भों में समझने को तैयार नहीं थे। जो गाय भारत के धार्मिक-सांस्कृतिक चिन्तन के केन्द्र में है, और जिसके बिना भारतीय पहचान की ठीक ढंग से कल्पना भी नहीं की जा सकती, उसे औपनिवेशिक विद्वानों और शासकों ने पिछड़ेपन का सबसे बड़ा प्रतीक ठहरा दिया। मैक्समूलर एक जगह लिखता है कि - हिन्दुओं में एक बुद्धिरहित, निरर्थक, गंदा, बर्बर-पाशविक तत्व है। अफ्रीका और अमेरिका के जो सबसे निकृष्ट कबीले हैं, उनमें भी इतनी वीभत्स, घिनौनी और देखते ही मन में जुगुप्सा-जन्य विद्रोह भड़का देने वाली प्रथा शायद ही हो, जैसी की पशु-पूजा की प्रथा हिन्दुओं में है। यह तो अधोगति की निम्नतम दशा है, अतलतम गहराई है।

इस औपनिवेशिक दृष्टि के खिलाफ धार्मिक स्तर पर आवाजें हमेशा से ही उठती रहीं, लेकिन औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान सामान्य लोगों के जनसामान्य को इस मुद्दे पर संवेदित करने में गांधी की अहम भूमिका रही। भारतीय संदर्भों में गाय की भूमिका और महत्व को लेकर गांधी की समझ कितनी स्पष्ट और असंदिग्ध थी, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने गाय के प्रश्न को स्वाधीनता के प्रश्न से भी महत्वपूर्ण माना है- कई बातों में मैं गोरक्षा के प्रश्न को स्वराज्य के प्रश्न से भी बड़ा मानता हूं। ...जब तक हम यह न जान लें कि गोरक्षा किस तरह करनी चाहिए, तब तक स्वराज्य की कोई स्थिति नहीं है। उनके लिए स्वराज्य इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह हमें गोरक्षा की शक्ति प्रदान करेगा- स्वराज्य हमें गोरक्षा की शक्ति देगा।

गांधी की प्राथमिकताओं में सबसे ऊपर गाय का प्रश्न है। वह गोसरंक्षण और गोसंवर्द्धन वह गोसंरक्षण के प्रश्न को भावनात्मक स्तर पर ही नहीं लेते उसके लिए ठोस प्रयास भी करते हैं। क्योंकि हिन्दू अपने धर्म के निर्देशानुसार गोरक्षा का कर्तव्य करने में विफल रहे हैं और क्योंकि भारत में गोवंश का दिन पर दिन ह्रास और क्षय हो रहा है, अतः उस धर्मकर्तव्य के पालन के लिए गोसेवा संघ गठित किया जाता है। संघ का लक्ष्य होगा-सभी नैतिक उपायों द्वारा गोवंश का संरक्षण। इसके सदस्यों को कर्तव्य होगा कि वे यथासम्भव, गाय के दूध का ही सेवन करें, मृत पशुओं के चमड़े के जूते आदि का इस्तेमाल करें। दूध के लिए भैंसे नहीं, गाय ही पाले और गाये ही पालने को प्रोत्साहन दें।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के बाद तो गांधी जी के आंदोलनात्मक, सृजनात्मक और वैचारिक गतिविधियों में गोसेवा और हरिजन सेवा ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया था। सन

1940 के सत्याग्रह से गोसेवा के काम में कुछ व्यवधान आया। किन्तु जब श्री जमनालाल बजाज, स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण, जेल से रिहा कर दिए गए तब महात्मा गांधी ने उनसे कहा कि क्योंकि स्वास्थ्य लाभ के लिए छोडे.हुए व्यक्ति को पूर्ण स्वस्थ हुए बिना फिर से सत्याग्रह में नहीं जाना चाहिए, इसलिए मेरे सर्वाधिक प्रिय दो कामो-हरिजन सेवा और गोसेवा में से गोसेवा का काम तुम उठा लो तो मुझे संतोष होगा।

दुर्भाग्यवश, गांधी का आकलन करते समय गाय का परिप्रेक्ष्य पूरी तरह से गायब कर दिया जाता है। और बड़ी चालाक से पंथनिरपेक्षा को गांधी के आकलन का सबसे बड़ा आधार बना दिया गया। जिन गांधी की दृष्टि में गोवध और मनुष्यवध एक ही बात है और गोरक्षा के प्रश्न का स्वराज से भी बड़ा प्रश्न मानते थे, उनके आकलन का सबसे वृहद और स्वाभाविक आधार उनका गोचिन्तन ही हो सकता था। गांधी का गोरक्षण और गोसंवर्द्धन सम्बंधी चिन्तन आज भारत के लिए आवश्यक है ही, गांधी के यथार्थ आकलन के लिए भी यह उतना ही आवश्यक बन गया है।

स्वदेशी भाव की हिंदी भाषा

गांधी के बाद बहुत चालाकी से उनकी स्वदेशी की संकल्पना को उत्पादों की खरीद-बिक्री तक सीमित कर दिया गया। गांधी की तो स्पष्ट मान्यता थी कि स्वराज और स्वदेशी के संघर्षों की शुरुआत भाषा के प्रश्न से ही होनी चाहिए। उनके लिए स्वराज का संघर्ष और कुछ नहीं बल्कि स्वदेशी के लिए किया जाने वाला संघर्ष है और उनके स्वदेशी के संघर्ष की शुरुआत स्वदेशी भाषा से होती है। स्वदेशी भाषा का प्रश्न उनके सभी संघर्षों के केन्द्र में है।

उनका आकलन था कि हिन्दी में ऐसा सामर्थ्य दिखाई पड़ता है कि वह स्वदेशी के भाव की संवाहिका बन सकती है। अपने स्वभाव के अनुरूप उन्होंने हिन्दी को सार्वजनिक विमर्श के केन्द्र में लाने से पहले खुद ही सीखना प्रारम्भ किया। उनकी भाषायी प्रतिबद्धता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपनी बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों के आ जाने को अयोग्यता का प्रतीक माना और उसके लिए सार्वजनिक रूप से क्षमा मांगी।

गांधी संभवतः पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने औपनिवेशिक भाषा में बच्चों की शिक्षा को देश के साथ विश्वासघात बताया। वह अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि जो भारतीय अभिभावक अपने बच्चों को अंग्रेजी में शिक्षा देते हैं वह न केवल बच्चों के साथ विश्वासघात करते हैं बल्कि अपने देश के साथ भी विश्वासघात करते हैं। ऐसे अभिभावक बच्चों को राष्ट्र की आध्यात्मिक और सामाजिक विरासत से काट देते हैं और उन्हें देश सेवा के अयोग्य बना देते हैं। (आत्मकथा, पृष्ठ 321)।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि गांधी की अंग्रेजी के प्रति आपत्ति उसे माध्यम बनाए जाने को लेकर अधिक थी, एक भाषा के रूप में वह उसे दुनिया के अलग-अलक हिस्सों से जुड़ने का साधन मानने को तैयार थे। अंग्रेजी को लेकर अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए वह यंग इंडिया के 1 जून 1921 के अंक में लिखते हैं कि -मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के दरवाजे और खिड़कियां पूरी तरह बंद हों। मैं चाहता हूं कि दूसरी संस्कृतियों की हवा मेरे घर तक पहुंचे। लेकिन इसके साथ मैं यह भी नहीं चाहता की बाहरी हवा का प्रवाह मेरे घर को ही उखाड़ फेंके। मैं दूसरे के घर में भिखारी या दास के रूप में भी नहीं रहना चाहता। मैं झूठे अहंकार या तथाकथित सामाजिक लाभ के लिए अपनी बहनों के ऊपर अंग्रेजी सीखने

का दबाव डालना उचित नहीं समझता।

गांधी भाषा के प्रश्न को लेकर अपने जीवन के आरंभिक काल से ही सजग थे। इसलिए उनके विचारों का बीज माने जाने वाली पुस्तक हिंद स्वराज में भी भाषा के प्रश्न पर उनकी स्पष्ट राय देखने को मिलती है। वह अंग्रेजी की शिक्षा को भारतीयों का दासत्व से जोड़ते हैं। हिंद स्वराज में वह लिखते हैं-लाखों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें दास बनाने जैसा है। मैकाले द्वारा रखी गई शिक्षा की नींव हमें दास बना रही है। मुझे नहीं पता कि उसकी मंशा क्या थी, लेकिन निष्कर्ष से तो ऐसा ही लग रहा है। क्या यह एक पीड़दायी स्थिति नहीं है कि यदि मैं न्यायालय में जाता हूं तो मुझे अंग्रजी को ही अपना माध्यम चुनना पड़ता है, यदि मैं वकील बन जाता हूं तो मैं अपनी अपनी भाषा नहीं बोल पाता हूं और किसी अन्य को मेरा अनुवाद करना पड़ता है। क्या यह पूरी तरह बेहूदा नहीं है। क्या यह दासता की निशानी नहीं है।   (पृष्ठ 73)

गांधी जी के भाषा सम्बंधी विचारों में स्पष्टता और सातत्य तो दिखता ही है, एक अन्य कारक जो उन्हें अलहदा बना देता है, वह है साहस। अन्य मसलों को लेकर गांधी संतुलित राय ही रखते थे लेकिन भाषा को लेकर वह हमेशा से ही बहुत मुखर रहे। 1914 में भारत आने के बाद वह 1918 तक सार्वजनिक दृष्टि से बहुत सक्रिय नहीं दिखाई पड़ते लेकिन भाषा को लेकर उनकी राय इस दौर में भी बहुत मुखर होकर अभिव्यक्त होती है। 27 दिसम्बर 1917 को पहली ऑल इंडिया सोशल सर्विस कान्फ्रेंस में दिया गया उनका सम्बोधन इस बात की तस्दीक करता है कि वह भाषा को लेकर कुछ निश्चित निष्कर्षों पर सम्भवतः अफ्रीका में ही पहुंच गए थे और उनके ये निष्कर्ष जीवन पर अपरिवर्तनीय रहे।

पहली सोशल सर्विस कॉन्फ्रेंस में वह कहते है-अंग्रेजी सीखने से सम्बंधित अंधविश्वासों से मुक्त होकर हम समाज की सबसे बड़ी सेवा कर सकते हैं।......अंग्रेजी के प्रशिक्षण की आवश्यकता में हमारा विश्वास हमें दास बना देता है और हम देश की सेवा करने के अयोग्य हो जाते हैं। क्या ऐसा नहीं है कि हम इस बात को देख पाने में असक्षम हो गए हैं कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण हमारे बुद्धिजीवी सामान्य आदमी से कट गए हैं, हमारे देश के श्रेष्ठ दिमाग एक दायरे में सिमट गए हैं और आम लोगों तक नए विचार नहीं पहुंच पा रहे हैं। पिछले सात दशकों में तथ्यों को आत्मसात करने के बजाय हमारी ऊर्जा शब्दों को रटने और उनका उच्चारण सीखने में खर्च हो रही है। अपने पूर्वजों से प्राप्त नींव पर भवन खड़ा करने के बजाय हम जिस तरह विस्मृत कर हैं, वह इतिहास में अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यह एक राष्ट्रीय आपदा है।

हिन्दी को लेकर वह टैगोर भी टकराते हैं और उन्हें एक कड़ा पत्र लिखते हैं। अब यहां पर प्रश्न यह उठता कि गांधी के बाद गंगा में काफी पानी बह चुका है। क्या अब भी उनके भाषायी विचारों की प्रासंगिकता बनी हुई है। 1991 के बाद वैश्वीकरण के आंधी में अंग्रेजी की अनिवार्यता का भ्रम तो और भी अधिक मजबूत हुआ है। भाषायी स्तर पर एक दौर में जो स्वदेशी का आग्रह हुआ करता था, वह भी अब क्षीण हुआ है। निश्चय ही स्थिति अधिक जटिल हुई है और यह जटिलता ही गांधी के भाषायी विचारों की प्रासंगिकता को बढ़ा देती है।

आज के परिदृश्य में सांस्कृतिक स्खलन और आर्थिक शोषण का सबसे बड़ा जरिया अंग्रेजी ही है। आधुनिकता के दबाव, वैज्ञानिकता के व्यामोह या साहस की कमी के कारण यदि हम इस स्थिति को हम गांधी की तरह राष्ट्रीय आपदा नहीं कह पा रहे हैं, राष्ट्र के साथ विश्वासघात नहीं ठहरा पा रहे हैं तो इसका आशय यह क्यों न निकाला जाए कि भारतीयों के जड़ोन्मूलन के इस अभियान मे हम भी हत्बुद्धि होकर अपनी मौन सहमति दे बैठे हैं।

भारतीय चिति और सत्याग्रह की समझ

गांधी का विशुद्ध बौद्धिक अथवा खांटी राजनीतिक आकलन अनेक बार हमें पशोपेश में डाल देता है। इन पैमानों पर किया गया आकलन गांधी की आधी-अधूरी समझ तो बनाता ही है, प्रायः हमें गलत निष्कर्षों पर भी पहुंचाता है। उनकी समस्त गतिविधियों के केन्द्र में भारतीय समाज का यथार्थ है और उस यथार्थ को बेहतरीन ढंग से सम्बोधित करने की क्षमता उनकी सबसे बड़ी योग्यता है।

गांधी की कोशिश भारतीय चिति को पकड़ने की है लेकिन वह औपनिवेशिक शासन के कारण पैदा हो रहे परिवर्तनों के प्रति भी पूरी तरह सजग थे। उनके राजनीतिक कार्यक्रमों में इन दोनों पक्षों के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश स्पष्ट दिखती है। उनकी राजनीतिक-आंदोलनात्मक गतिविधियों के केन्द्र में रहे सत्याग्रह की संकल्पना को इसी परिप्रेक्ष्य में ठीक ढंग से समझा जा सकता है।

उनके लिए सत्याग्रह शाश्वत मूल्य और आत्मअनुभूति की साधना भी है और स्वराज प्राप्ति के लिए आवश्यक-सामयिक उपकरण भी। वह इस बात को मान चुके थे कि भारतीय चिति की अंतिम अभिलाषा पूर्ण सत्य को जानने की है। और भारतीय जनमानस में अब भी यह बात गहरे तक बैठी हुई है। जब वह कहते हैं कि 'सत्य ही ईश्वर है' तो वह भारतीय जनमानस की चरम अभिलाषा को अभिव्यक्ति दे रहे होते हैं।

गांधी ने सत्य के प्रति आग्रह के इस प्रवृत्ति को अपनी मुख्य-कार्ययोजना बनाया ही, इसका इतना अधिक विविधीकरण कर दिया कि हर भारतीय इसमें शामिल हो सके। राजनीतिक कार्यक्रमों के विविधीकरण की यह योग्यता ही गांधी को अन्य नेताओं से अलग और अलहदा बनाती है। वह किसी दर्शन को, किसी कार्य-योजना को इतने सामान्य स्तर तक ले आते थे कि आम व्यक्ति भी उससे जुड़ सके। उन्होंने असहयोग, सविनय अवज्ञा, धरना,खादी, चरखा, सूत कातना- सबको सत्याग्रह का पर्याय बना दिया और आम भारतीय में यह विश्वास भर दिया कि वह भी देश के लिए कुछ महत्वपूर्ण कर सकता है।

विभिन्न आघातों और निराशाओं के बीच गांधी की सत्याग्रह के प्रति आकर्षण कभी भी कम नहीं हुआ। उनके लिए व्यक्तिगत या सार्वजनिक सत्याग्रह एक आध्यात्मिक साधना थी। वह मानते थे कि सत्याग्रह सीधी कार्रवाई का सबसे ताकतवर उपकरण था लेकिन वह यह भी मानते थे कि इसका उपयोग मनमाने तरीके से नहीं किया जाना चाहिए। अन्य उपलब्ध सभी तरीकों का उपयोग किए जाने के बाद ही सत्याग्रह का उपयोग किया जाना चाहिए।

सत्याग्रह की मूल तत्व की तरफ संकेत करते हुए गांधी कहते हैं कि सत्याग्रह के पहले वह जनमत से आग्रह करेंगे, जनमत को शिक्षित करेंगे हर उस व्यक्ति से शांतिपूर्ण ढंग से बात करेंगे जो समस्याओं का सुनना चाहेगा। इसके बाद ही सत्याग्रह के तरीके का उपयोग करेंगे। सत्याग्रह के साधनात्मक पक्ष के बारे में बात करते हुए वह कहते हैं कि -सत्याग्रह बहुत सहज है, यह कभी घाव नहीं देता। यह क्रोध अथवा दुराग्रह का प्रतिफल नहीं है। यह उद्वेग अथवा अधैर्य की देन भी नहीं है। यह किसी बाध्यता की भी देन नहीं है। वस्तुतः यह हिंसा का सम्पूर्ण विकल्प है।

गांधी सत्याग्रह का विविधीकरण करने में कितना सफल होते हैं इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने पत्रकारिता को भी सत्याग्रह का एक अभिन्न हिस्सा माना है। सत्य उनके लिए ईश्वर था और पत्रकारिता सच को अभिव्यक्त करने का जरिया। उन्होंने अभिव्यक्ति के दोनों स्वरूपों में निरंतर अपनी सक्रियता बनाए रखी। 'गांधी की शाब्दिक सक्रियता उनकी संचार करने, संवाद करने, खुद को अभिव्यक्त करने और लोगों से जुडे. रहने की उत्कट इच्छा का प्रतिफल थी। उनकी यह इच्छा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने दोनों हाथों से लिखने की क्षमता विकसित कर ली थी।

उनकी सत्याग्रह की साधना में मीडिया-जागरूकता एक आवश्यकत तत्व है। सत्याग्रह के दौरान होने सत्याग्रहियों के खिलाफ होने वाली एकतरफा हिंसा की विश्वव्यापी कवरेज होती थी और पत्रकार सत्याग्रह सम्बंधी आयोजनों को एक प्रमुख घटना के तौर पर लेते थे। औपनिवेशिक शासन से लड़ने में सत्याग्रह इतना प्रभावशाली कभी भी साबित नहीं होता यदि उसकी ह्दय-विदारक खबरें और फोटो अखबारों में प्रकाशित नहीं होती।

गांधी यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि पत्रकारिता में बेहतरीन कवरेज का आधार सत्य होता है। पत्रकारिता की जान सत्याग्रह ही है, यही वह विश्वसनीयता पैदा करती है, जिस इस क्षेत्र की सबसे बड़ी पूंजी माना जाता है। वह संदेशों का सम्प्रेषण सत्याग्रह के कलेवर में ही करते थे। सत्य को केन्द्र में रखकर संदेश गढ़ने की उनकी क्षमता पत्रकारों को भी हैरान कर देती थी। अपनी इस पत्रकारीय समझ और संचारीय कौशल के कारण वह

टाइम मैगजीन के 'मैन ऑफ द ईयर' बने।

गांधी ने सत्याग्रह को अपने सभी राजनीतिक और व्यक्तिगत गतिविधियों के केन्द्र में रखकर भारत और भारतीय से जुड़ने का अभिनव प्रयास किया। सत्याग्रह के जरिए उन्होंने समावेशी लक्ष्य निर्धारित किए और उन्हें एक हद तक प्राप्त करने में सफलता भी प्राप्त की। गांधी ने उस समय सत्याग्रह की तकनीक के जरिए स्वराज के लक्ष्य को सबका लक्ष्य बनाने में एक हद तक सफलता प्राप्त की थी। भारत और भारतीयता का सबका स्वप्न बनें, इसकी जरूरत आज भी बनी हुई है। देखना यह है कि क्या आज का नेतृत्व ऐसी कोई राजनीतिक कार्य-योजना बना सकता है, जो समावेशी और भारतीय दोनों हो।

संचार-संस्कृति में संतुलन का यक्षप्रश्न

जब विश्वसनीयता असंदिग्ध होती है तो मौन बोलने लगता है। गांधी के संदर्भों में देखें तो उन्होंने विश्वसनीयता का एक ऐसा स्तर अर्जित किया था कि उनका मौन होना भी उबाल पैदा कर देता था। विश्वसनीयता के साथ संदेश-सम्प्रेषण के सर्जनात्मक तरीके ईजाद करने की उनकी क्षमता उन्हें सर्वश्रेष्ठ संचारक बना देती है।

गांधी की संचारीय-सक्षमता इस कदर थी कि उनका मौन, उनका उपवास, उनका खाना, उनका कपड़ा, सब कुछ सार्वजनिक संदेशों को सम्प्रेषित करने का जरिया बन जाता है। दुर्भाग्यवश, उनका आकलन राजनेता समाज-सुधारक, आध्यात्मिक विभूति, अर्थशास्त्री सभी रुपों में की गई लेकिन एक संचारक के रुप में उनकी सफलताओं पर कम ही ध्यान गया है। गांधी को राजनेता अथवा संत के रूप के समझने के साथ एक सफल संचारक के रूप में समझने की कोशिश उनके व्यक्तित्व के बुनावट की कई उलझनें सुलझा सकता है और उनकी सीमाओं और सामथ्र्य को भी अधिक स्पष्ट बना सकता है।

गांधी की संचारीय-सक्षमता केवल तकनीकी-कौशल एव भाषायी-प्रवाह पर निर्भर नहीं है। तत्कालीन भारत की सामाजिक-सास्कृतिक समझ उन्हे बेजोड़ सम्प्रेषक बना देती है। प्राय़ः नवाचार की स्वीकृति कम समय में नही होती लेकिन गांधी के संदर्भ में यह नही कहा जा सकता। इसका कारण यह था कि अधिकांश मामलों में उनका नवाचार परम्परा भंजक नही होता था, बल्कि परम्परा को परिष्कृत और पोषित करने वाला होता था।

मसलन उस दौर में साम्यवाद का रुमानी विचार सबको सम्मोहित किए हुए था लेकिन गांधी इस शब्द जरिए आदर्श समाज का खाका लोगों को सामने नहीं रखते। उन्होने साम्यवाद की जगह रामराज्य शब्द स्वीकार किया और रामराज्य को आदर्श सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। देखने में यह छोटा सा कदम था लेकिन ऐसे छोटे कदम ही गांधी की स्वीकार्यता को बढ़ा देते थे। स्वाभाविक सी बात है कि भारतीय संदर्भों में रामराज्य की स्वीकार्यता और साम्यवाद से अधिक होनी थी, और यह हुई भी।

इस तरह सत्याग्रह को व्यक्तिगत सीमाओं से बाहर निकालकर सार्वजनिक आंदोलन बना देना गांधी के सर्जनात्मक संचारीय चिंतन से ही संभव हो सका। इसके पहले सत्याग्रह का

उपयोग प्रायः व्यक्तिगत दायरे और धार्मिक संदर्भों में किया जाता था। गांधी जी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि सत्याग्रह से जुड़ी धार्मिक अपील लोगां को मोबलाइज कर सकती है। इसलिए उन्होंने एक रणनीति के तौर पर इसे सार्वजनिक स्तर पर अपनाने का फैसला किया। आगे की कहानी एक इतिहास है। सत्याग्रह अन्याय और औपनिवेशिक शासन के खिलाफ सबसे बड़े प्रतीक के रूप में स्थापित हुआ।

गांधी के व्यक्तित्व में परम्परा और परिवेश को गढ़ने वाले शब्दों के साथ संतुलित प्रयोग करने की अद्भुत क्षमता थी। शब्दों के मूलभाव को बदले बगैर उन्हें नए संदर्भों में प्रयोग कर यथास्थिति को भंग कर देने में गांधी अतुलनीय है। परम्परा और परिवेश ने किस शब्द में कितनी ऊर्जा भरी है और सदियों से संचित शाब्दिक ऊर्जा का उपयोग समसामयिक परिप्रेक्ष्य में कहां हो सकता है, इसको परखने में गांधी बेजोड़ है। वह सांस्कृतिक पारिस्थितिकी से परिचय को संचारीय सफलता की पूर्वशर्त मानते थे। शब्दों की आत्मा को संजोते हुए उनका कायांतरण करने की कारीगरी गांधी की सबसे मौलिक विशेषता है। और यही विशेषता उन्हें सहस्राब्दी का सबसे प्रभावी जनसंचारक बना देती है।

सांस्कृतिक-संदर्भों से उनका जुड़ाव केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भी इस प्रकार सुगठित किया था कि उसमें सांस्कृतिक प्रतिबद्धताएं झलकती थीं। उनके मन में तो भारतीयता रची-बसी थी ही। मन-कम-कर्म का सांस्कृतिक सदर्भों के साथ यह समायोजन गांधी को असंदिग्ध विश्वसनीयता प्रदान करता था और साथा उनकी लोगों तक पहुंच को असाधारण रूप से बड़ा बना देता था।

वर्तमान संदर्भों में जब संचार और मीडिया प्रत्येक गतिविधि के केन्द्र में आ गई है, तो गांधीवादी संचारीय दृष्टि की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। पश्चिमी चिंतन संचार को तकनीकी और भाषायी परिधि में ही समझने की कोशिश करता रहा है। भारतीय विशेषज्ञ में इस चिंतन की छाया में पले-बढे.हैं। सांस्कृतिक सदर्भों में संचारीय-प्रक्रिया को समझने की शुरुआत भी ठीक ढंग से नहीं हो पाई है। सभ्यताओं में टकराव और पहचान के बढ़ते संकट के बीच इस संचारीय प्रक्रिया और सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के बीच संतुलन की जरुरत और भी अधिक बढ़ गई है। इसके उलट संचारीय प्रक्रिया और सांस्कृतिक सदर्भों को एकदूसरे के आमने-सामने खड़ा कर दिया गया है।

टकराव की इस स्थिति से बाहर निकलना संस्कृति और संचार दोनों की बेहतरी के लिए आवश्यक है। यह काम ज्यादा कठिन भी नहीं है। प्रायोगिक और सैद्धांतिक स्तरों पर संस्कृति और संचार के बीच स्वर्णिम संतुलन साधने का गांधीवादी पाथेय हमारे सामने है ही।

सभ्यतागत समझ और विभाजन की गुत्थी

सेमेटिक सभ्यताओं को समझने में भारतीय पिछली कई सदियों से लगातार चूक रहे हैं। हो यह रहा है कि भारतीय नेतृत्व अपनी सभ्यता के गुण-दोषों को दूसरी सभ्यताओं पर आरोपित कर कुछ सहज, मानवीय और उदात्त निष्कर्ष निकाल लेता है। इस पद्धति से निकलने वाला सबसे बड़ा निष्कर्ष यह है कि सभी पंथ समान है और सभी धर्मों में शांति एवं भाईचारे की बात कही गई है। लेकिन जब भारतीय नेतृत्व का वास्ता अन्य सभ्यताओं की वास्तविकताओं से पड़ता है तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ और बेबस हो जाता है। इस सभ्यतागत समझ की परिधि में ही गांधी और उनके चर्चित कथन- ' विभाजन मेरे लाश पर होगा ' की सही तरीके से विश्लेषित किया जा सकता है।

गांधी के इस कथन ने पूरे देश को आश्वस्त किया था कि विभाजन नहीं होगा, विभाजनकारी शक्तियों के मंसूबे सफल नहीं होंगे। दुर्भाग्य से जब विभाजन ने यथार्थ रूप में दस्तक दी तो लाचारी के साथ गांधी ने उसे स्वीकार कर लिया। खान अब्दुल गफ्फार खान ने जब रोते हुए यह कहा कि कांग्रेस ने विभाजन को स्वीकार कर पख्तूनों के साथ विश्वासघात किया है, तो प्रकारांतर से वे गांधी की ही विश्वसनीयता पर गंभीर प्रश्न खड़े कर रहे थे।

प्रश्न यह उठता है कि गांधी की चूक क्या व्यक्तिगत चूक थी, या पूरी भारतीय सभ्यता ही पांथिक समानता के सम्मोहन में अपनी जड़ें खोदने पर उतारू है। भारतीय पिछले हजार-बारह सौ सालों से यह रट लगाए हुए हैं कि सभी पंथ समानता और सह-अस्तित्व का संदेश देते है। लेकिन क्या सेमेटिक पंथों का भी यही दृष्टिकोण है?

जहां पर दिन में पांच बार इस बात की घोषणा की जाती है कि केवल उनका सच ही अंतिम सच है और उनके पैगम्बर ही सच के एकमात्र उद्घोषक हैं, वहां पर समानता और सह-अस्तित्व के लिए कितना स्पेस बनता है ? जिनकी विश्वदृष्टि दुनिया के पांथिक विभाजन पर निर्भर है और जहां पर अन्य मतावलम्बियों को पहले से ही जाहिल मान लिया गया हो, वहां पर शांति के लिए कितनी गुंजाइश बचती है ? जहां पर जन्नत में प्रवेश की

संभावना दूसरों के सफाए के समानुपात में बढ़ती हो, वहां पर मानवीय दृष्टिकोण कैसे काम कर सकता है ? दुर्भाग्यवश, इन प्रश्नों से मुठभेड़ करने की हिम्मत भारतीय नेतृत्व लम्बे अरसे से नहीं जुटा पा रहा है। इसी कारण निर्णायक मौकों पर या तो हम औंधे मुंह गिरते हैं या हमें अपने पांव पीछे खींचने पड़ते हैं।

गांधी पांथिक समानता के नारे से कुछ अधिक ही सम्मोहित थे। वह असहयोग आंदोलन में भी खिलाफत के प्रश्न का जोड़ते हैं। अधिकांश लोग यह मानते हैं कि भारत में तुष्टीकरण की राजनीति का प्रारंभ गांधी के खिलाफत आंदोलन से ही होता है। 1920 के बाद सार्वजनिक स्तर पर कई ऐसे मौके देखने को मिलते हैं, जहां गांधी मुस्लिमों की 'अतिरिक्त' देकर रिझाने की कोशिश करते हैं या हिंदुओं के वाजिब मांगों को भी साम्प्रदायिक दृष्टि से संवेदनशील ठहरा कर उनकी चर्चा करने से भी परहेज करते हैं।

संभवतः वह यह मानते थे कि मुस्लिमों को 'अतिरिक्त' देकर उन्हें भारतीय मुख्यधारा में बनाए रखा जा सकता है। तुष्टीकरण के जरिए एक वर्गविशेष को देश की मुख्यधारा से जोड़ने का यह प्रयोग गांधी से शुरू होकर अब तक जारी है। इस मृगमरीचिका से अब भी भारत का राजनीतिक प्रतिष्ठान निकल नहीं पाया है। इस प्रयोग के कारण कितने लोग मुख्यधारा में शामिल हुए, यह आकलन का विषय है लेकिन इसके कारण यह जरूर हुआ कि मुख्यधारा के ऊपर ही हासिए पर जाने का खतरा मंडराने लगा। इसी मानसिकता से वशीभूत होकर कुछ लोग आज भी यह तर्क देते हैं कि यदि जिन्ना को 1937 के बाद उचित राजनीतिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया होता तो देश का विभाजन नहीं होता। ऐसे लोग उचित को परिभाषित करने की जहमत नहीं उठाते। उचित प्रतिनिधित्व की यह मांग का अंत क्या होता। शायद पहले वह देश का प्रधानमंत्री पद मांगते और बाद में देश ही मांगने लगते।

देश के विभाजन के साथ ही गांधी का कुछ अतिरिक्त देकर वर्ग विशेष को साथ जोड़ने का प्रयोग विफल हो गया था। देश ने इस प्रयोग की भारी कीमत चुकायी। इससे भी निराशाजनक तथ्य यह है कि इस प्रयोग की असफलता के कारण बहुत कुछ खोने के बावजूद 1947 के बाद भी राजनीतिक प्रतिष्ठान ने कुछ अतिरिक्त देने की नीति को जारी रखा बल्कि उसे अति की सीमा तक पहुंचा दिया गया। इसकी अति शाहबानो केस में तो देखने को मिली ही थी, संप्रग शासनकाल में प्रस्तावित साम्प्रदायिक हिंसा विधेयक में इस तुष्टीकरण की नीति की अति देखी जा सकती है। इस विधेयक का लब्बोलुआब यह था कि अपराध कोई भी करे, दोषी हिंदू ही होगा।

गांधी ने अपने सार्वजनकि जीवन में कई प्रयोग किए। कुछ सफल हुए और कुछ

असफल। एक तथ्य तो एकदम स्पष्ट है वह पांथिक समानता के मोर्चे में उनकी समझ और प्रयोग दोनों बुरी तरफ असफल हुए। भारतीय राजनीतिक प्रतिष्ठान जितनी जल्दी यह मान ले कि पांथिक सह-अस्तित्व का लक्ष्य गांधी के रास्ते पर चलकर नहीं प्राप्त किया जा सकता, भारत और भारतीयता को होने वाला नुकसान उतना ही कम होगा।

यहां पर प्रश्न यह भी उठता है कि फिर पांथिक सह-अस्तित्व के संभावित रास्ते क्या होंगे? इतना तो कहा ही जा सकता है कि कोई तयशुदा रास्ता नहीं है। रास्ता पहचानने और रास्ते पर आने के लिए हमें सभी सभ्यताओं की एक निभ्रांत समझ विकसित करनी होगी। यदि कुछ असुविधाजनक तथ्य हैं तो उन्हें स्वीकारना होगा, उन्हें कहना-बताना होगा। तथ्यों के कठोर धरातल पर ही रास्ते बनते-बिगड़ते हैं। हवाई किले बनाने की आदत के कारण यह देश पहले ही बहुत कुछ खो चुका है। सभ्यतागत प्रेरणाओं-प्रतिक्रियाओं को ठीक ढंग से समझने की चुनौती को हमें स्वीकार करना ही होगा। गांधी इस कार्य में अवरोधक नहीं बनेंगे, न ही उन्हें अवरोधक बनाया जाना चाहिए क्योंकि प्रयोगधर्मिता गांधी की सबसे बड़ी विशेषता है।

धर्मपथ और शांतिपथ के चौराहे पर गांधी

पिछली कुछ सदियों से भारत जब भी धर्म और शांति के चौराहे पर खड़ा होता है तो वह खुद को असमंजस की स्थिति में पाता है। निर्णायक क्षणों में असमंजस की स्थिति में फंसने की यह मानसिकता भारत में गहरे तक धंसी हुई है और इसके कारण भारत और भारतीयता को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।

हैरत की बात यह है कि बदलावों के दौर से गुजर रहे इस देश में अब भी यह मानसिकता यथावत बनी हुई है। अब भी यह देश धर्म और शांत के चैराहों पर खुद को असहज और असहाय महसूस करता है । पुलवामा के बाद उभरा परिदृश्य इस बात का हालिया उदाहरण है। पाकिस्तान के खिलाफ एयर स्ट्राइक करने के बाद जब दोनों देशों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुंच गया था तब मीडिया और नागरिक समूहों के एक धड़े ने एकाएक शांति का राग अलापना शुरू कर दिया। शांति का राग बुरा नहीं है लेकिन हर राग का एक प्रहर होता है, एक समय होता है। बेसमय का राग बेसुरा तो होता ही है और नुकसानदायक भी । जब सत्य और धर्म का प्रश्न मुंह बाए खड़ा हो तो भारतीय परंपरा शांति-अशांति का कसौटी को गौण मानती रही है। शांति की परिधि में धर्म हमेशा चक्कर लगाए, यह जरूरी नहीं है । धर्म पथ पर शांति - अशांति के बजाय देश- काल-पात्र का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। इस पथ पर कुछ भी अस्पृश्य नहीं है। देशबोध और कालबोध के हिसाब से प्राथमिकता सूची में ऊपर से नीचे होता रहता है ।

भारतीय परंपरा में निर्णय लेने की मुख्य कसौटी धर्म और न्याय है, शांति और समझौते नहीं। धर्म यदि शांतिपूर्ण तरीके से स्थापित होता है तो बहुत अच्छा, लेकिन यदि धर्म के मार्ग में शांति बाधा बनकर खड़ी हो जाए तो धर्म उस बाधा को ध्वस्त कर आगे बढ़े, यह परंपरा का आदेश है । रामायण और महाभारत का यही संदेश है, राम और कृष्ण की यही सीख है । इस बात को विस्मृत नहीं किया जा सकता कि धर्म के बजाय यदि शांति को तरजीह दी गई होती तो रामायण और महाभारत कभी नहीं घटित होते। गीता का तो संपूर्ण उपदेश

ही प्राथमिकता सूची में धर्मपथ को शांतिपथ से ऊपर रखने के लिए दिया गया है । इस परंपरा के आलोक में और ऊहापोह की वर्तमान भारतीय मानसिकता के संदर्भो में गांधी का आकलन की यथार्थ पृष्ठभूमि तैयार होती है ।

गांधी ने मानसिक स्तर पर अपने जीवन का बड़ा हिस्सा धर्मपथ और शांतिपथ के इस चौराहे पर बिताया। उनके निर्णयों और आदर्शों पर इस चौराहे की ऊहापोह की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। वह सत्यकाम भी है और शांतिकाम भी। उनके चिंतन की मूल समस्या यह है कि वह सत्य को शांति की परिधि में ही स्वीकार करने को तैयार है। मानवीय प्रवृत्तियां और दुनियावी गतिविधियां तो यही बताती हैं कि सच को शांति के दायरे में नहीं समेटा जा सकता । गांधी जब यह कहते हैं कि 'सत्य ही ईश्वर है' तो वह इस बात स्वीकार कर रहे होते हैं कि निर्णियों की अंतिम कसौटी सत्य है लेकिन जब वह यह कहते हैं कि अहिंसा एक मात्र रास्ता है तो वह सच की परिधि निर्धारित कर देते हैं। सच और शांति के अन्तर्सम्बन्धों की यह जटिलता, गांधी चिंतन को विशेषता देती है और कुछ हद तक कमजोर भी बना देती है ।

गांधी ने भारतीय परंपरा में बदलाव करते हुए शांति को सत्य से ऊपर रखने की कोशिश की । हांलाकि वह सत्याग्रह करते दिखते हैं लेकिन केन्द्र में अहिंसाग्रह होता है। मूल्यों और आदर्शों को हम परंपरानुसार यथाक्रम फिर से व्यवस्थित कर सकें तो यह गांधीवादी चिंतन का परिष्कार होगा और परंपरा का पोषण भी । आज की परिस्थितियों में यह देश और समाज दोनों के लिए अधिक आवश्यक कर्म बन गया है।

वायवीय आदर्शों और भावुक प्रतिक्रियाओं का द्वंद्व

परिणामों के आधार पर व्यक्ति अथवा विचार के आकलन की प्रवृत्ति बहुत सहज है, और प्रभावी भी। जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सिद्धांतों की सवारी की जाती है अथवी निर्णयों की नींव रखी जाती है, यदि उन्हें प्राप्त न किया जा सके तो सिद्धांत और निर्णयों को प्रश्नवाचक मुद्राओं का सामना करना ही पड़ता है। गांधी के सिद्धांतों और निर्णयों को परिणामों की कसौटी पर कसने पर कुछ ऐसे निष्कर्ष हाथ लगते हैं, जो उनके बारे में स्थापित मान्यताओं को झकझोर कर रख देते हैं।

गांधी पूरे जीवन अहिंसा के सिद्धांत को लेकर बहुत आग्रही रहे। वह अहिंसा के जरिए शांति, सौहार्द और भाईचारे का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे। क्या अहिंसा के उनके उपकरण ने इन लक्ष्यों को प्राप्त करने में उनकी कोई मदद की ? अथवा उनका यह आग्रह एकपक्षीय साबित हुआ! क्या प्रतिक्रिया के अभाव की स्थिति ने क्रूरताओं को नए सिरे से परवान चढ़ने के अवसर प्रदान नहीं किए ? गांधीकालीन भारत का अवलोकन करें तो इन संभावनाओं को सिरे से खारिज करना मुश्किल हो जाएगा। परिणाम के पैमाने पर गांधी की अहिंसा को प्रश्नों का सामना करने से बचाया नहीं जा सकता।

इसी तरह विभाजन के निर्णय को स्वीकार करना गांधी का बहुत बड़ा निर्णय था। विभाजन से किन लक्ष्यों की प्राप्ति हुई, इस पर बहस की बहुत गुंजाइश है। विभाजन के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि यह संभावित व्यापक पैमाने पर होने वाले साम्प्रदायिक दंगों को रोकने के लिए किया गया था। लेकिन क्या विभाजन के कारण साम्प्रदायिक दंगे रुक गए। आंकड़ों की गवाही तो इसके उलट ही है। विभाजन के कारण 20 लाख लोग मारे गए, करोड़ों लोगों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ा। किस साम्प्रदायिक दंगे में इतने बड़े पैमाने पर जनसंहार होता है। एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि हिन्दू-मुस्लिम एक साथ नहीं रख सकते, इसलिए विभाजन जरूरी था, लेकिन इसके लिए तो जनसंख्या को पूर्ण स्थानांतरण आवश्यक था, जो हुआ नहीं। कुल मिलाकर विभाजन का समाधान हत्या के डर से आत्महत्या करने जैसा था।

गांधी जिस सिद्धांत के बारे में सबसे अधिक आग्रह रखते थे और उनके जिस निर्णय को सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, वे परिणाम के पैमाने पर बुरी तरह विफल हुए। कुछ मायनों में तो उनके सिद्वांतों और निर्णयों ने विपरीत परिणाम दिए। इसलिए परिणाम को आधार मानकर किए जाने वाले आकलन तो गांधी को वायवीय आदर्शवादी ही साबित करते हैं। वह अपने आदर्शों के सम्मोहन में जी रहे थे। उनके आदर्शो में यथार्थ का निवेश शून्य के बराबर थे। और यथार्थ के धरातल के बिना आदर्श की यात्राओं का औंधेमुंह गिरना तय होता है। गांधी के साथ भी यही हुआ।

प्रश्न यह उठता है कि गांधी ने वायवीय आदर्श के सम्मोहन का शिकार क्यों हो गए। उत्तर मानव-प्रकृति सम्बंधी उनकी मान्यताओं में ढूंढा जा सकता है। गांधी मानव को मूलरूप से अच्छा व्यक्ति मानते थे, जो हमेशा अच्छा सोचता है और अच्छा ही करता है। यह हॉब्स जैसे पश्चिमी राजनीतिक विचारकों के ठीक विपरीत थे। हॉब्स के अनुसार आदमी स्वभाव से ही बुरा होता है, बुरा ही सोचता है और बुरा ही करता है। यह दोनों अतियां है।

भारतीय चिंतन तो मानव-प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है-सत, रज, तम। प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रवृत्तियां रहती है। प्रत्येक व्यक्ति में किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है, अन्य प्रवृत्तियां देश-काल-परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए एक ही व्यक्ति की अलग-अलग परिस्थिति में अलग-अलग मनःस्थिति रहती है। भारतीय चिंतन मानता है कि व्यक्ति अच्छाई या बुराई की स्थिर इकाई नहीं है। इसलिए मानव अथवा मानव-समुदाय के बारे में एक स्थिर अवधारणा बनाना भ्रामक है। दुर्भाग्य यह है कि भारतीयता के प्रति अपने आग्रहों के बावजूद गांधी मानव-प्रकृति को उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं के साथ स्वीकार नहीं कर सके। उनके सैद्धांतिकी और निर्णयों के विफल होने का कारण यही है।

दुर्भाग्य यह रहा है कि देश को गांधी की सफलताओं-असफलताओं का खुले मन से विवेचन-विश्लेषण करने का मौका नहीं मिला। विभाजन के बाद गांधी की असफलताएं खुली किताब की तरह लोगों के सामने थीं। इस समय उस समय सबसे अधिक असंतोष और शिकायतें भीं गांधी को लेकर थीं। गांधी के वायवीय आदर्शो की सीमाएं हवाओं में तैर रही थीं। इसी बीच गोडसे की तरफ से एक ऐसा कदम उठता है जिसके कारण गांधी के बारे में मुक्तमन से चर्चा होना असंभव हो जाता है।

न्यायालय में गोडसे को लेकर जो बयान हैं, वह पढ़ने जैसा है, और उनकी मान्यताओं को समझने में सहायक भी। उस पर भी खुले मन से चर्चा होनी चाहिए। लेकिन यह प्रश्न तो बना ही रहेगा कि उनकी भावुक प्रतिक्रिया के कारण क्या उस राष्ट्र-धर्म-संस्कृति की बेहतरी

में कोई सहायता मिली, जिसके लिए वह अपना सर्वस्व अर्पण करने की बात करते हैं।

परिणामों के आधार पर गांधी के आकलन से उनकी एक अलग तस्वीर बनती है। यदि गोडसे का भी आकलन इसी आधार पर करें तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि उन्होंने इस सभ्यता-संस्कृति को कितनी लाभ-हानि पहुंचाई। गोडसे के मन में चाहे जैसी भावनाएं रही हों, लेकिन उनके एक भावुक कदम ने इस देश की संस्कृति और उसकी संवाहक शक्तियों के सामने एक जटिल स्थिति पैदा कर दी। विरोधियों को ऐसे आख्यान रचने के मौके दिए जो देश-धर्म के खिलाफ थे। नैतिक धरातल पर हम अन्यों के बराबर आ गए। सफाई देने की एक ऐसी मुद्रा ओढ़नी पड़ी, जो अब भी हमारे सिर पर भार के रूप में सवार है।

वायवीय आदर्शो और भावुक प्रतिक्रियाओं के द्वंद्व से यह देश आज भी संतप्त है। एकदम उदात्त नारे या निकृष्ट फौरी प्रतिक्रिया हमारा स्वभाव बन गई हैं। इन दोनों अतियों के बीच सच कहीं कोने में सिसक रहा होता है, सच को सामने लाने वाली साधना दम तोड़ जाती है। दीर्घकालीन रणनीति और संयम की बात पीछे छूट जाती है, वाग्वीर जीभ से तलवारें भाजकर ही युद्ध का निपटारा कर देते हैं। देश को इस द्वंद्व से बाहर निकालने की जरूरत है। सत्य को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता तो है ही, जरूरत उसे प्रतिष्ठित करने की साधना को एकरेखीय और एकवेगीय मानने के भ्रम से बाहर निकलने की भी है।

राजधर्म में पंथनिरपेक्षता का प्रश्नचिन्ह

भारत में सभी तरह की सत्ताएं धर्माश्रित रही हैं, धर्माधीन रही हैं। ज्ञान सत्ता हो या अर्थसत्ता, राजसत्ता हो या समाज सत्ता, सभी अंतः धार्मिक सत्ताएं मानी जाती हैं। सभी लघु-सत्ताएं धर्म की व्यापक सत्ता में समाहित रहती हैं, और उसी से नियंत्रित भी होती हैं। यदि इनमें से कोई भी सत्ता धर्मच्युत होती है या धर्म विरुद्ध आचरण करती है तो वह त्याज्य हो जाती है। इस दृष्टिकोण के कारण ही महाज्ञानी रावण वध योग्य समझा जाता है और सत्ता से मदमत्त कंस अथवा दुर्योधन भी।

भारतीय दृष्टि बहुत स्पष्ट रही है। धर्मसत्ता से ही अन्य सत्ताएं निःसृत होती हैं और धर्म पर किसी का एकाधिकार नहीं है। उसका अंश अलग-अलग रुपों और भूमिकाओं में सभी में व्याप्त है। इसी कारण भारत में सत्ताओं की समानांतर रेखाएं नहीं रही हैं। धर्म चक्र ने अलग-अलग लोगां को अलग-अलग भूमिकाएं प्रदान कीं और इसके साथ ही कुछ निश्चित सत्ताएं और सीमाएं भी मिलीं। ये सभी मिलकर एक सम्पूर्ण धर्मसत्ता की रचना करती हैं।

यह यूरोपीय दृष्टि के ठीक उलट है। वहां राज्यसत्ता और पुरोहित सत्ता आपस में टकराती रहीं। पुरोहित सत्ता (चर्च) लौकिक सत्ता को भी अपने अधीन बताने-जताने की कोशिश करती रही और राजसत्ता उसे स्वर्ग सम्बंधी मामलों तक ही सीमित रखने की दलील देती रही।

पापमोचक पत्रों (पेपर ऑफ इंडलजेन्सेज) जैसी संकल्पनाएं इसी दौर में आई। इसके जरिए चर्च ने यह जताने की कोशिश की गई कि राजा सहित सभी व्यक्ति स्वर्ग जाने के लिए उसकी कृपा पर निर्भर हैं। संघर्ष लम्बे अरसे तक चला और बाद में पंथनिरपेक्षता के रूप में दोनों के लिए एक सीमा-रेखा खींच दी गई। राजनीति और पंथ का घालमेल न करने का मूल्य और तर्क भी इसी घटनाक्रम से उपजा।

महात्मा गांधी राजनीति की भूमिका, महत्व और स्थान के बारे में भारतीय परम्परा के अनुसार ही समझ रखते थे। वह धर्मविहीन राजनीति को एक शव मानते थे, जो कोई भी

जीवंत और सृजनात्मक कार्य में असमर्थ होती है। राजनीति में धर्म के निवेश को वह सबसे अधिक सृजनात्मक कार्य मानते थे क्योंकि उनकी यह स्पष्ट मान्यता था कि राजनीति सर्व-सामान्य के जीवन से सीधे जुड़ी होती है और सबसे अधिक प्रभावित भी करती है। इसलिए उन्होंने पंथनिरपेक्षता के उस यूरोपीय तर्क को पूरी तरह से खारिज कर दिया था, जो राजनीति और धर्म के बीच मजबूत विभाजक रेखा खींचता है। वह अपनी आत्मकथा की भूमिका में कहते हैं, सच के प्रति उनका अनुराग उन्हें राजनीति में खींच लाया है। और उनकी राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें जो शक्ति उपलब्ध हुई है, वह आध्यात्मिकता से निकली हुई है। मैं बिना रत्ती भर संकोच किए और पूरी विनम्रता से यह कहना चाहूंगा कि जो यह कहते हैं कि राजनीति का पंथ से कुछ भी लेना-देना नहीं है, उन्हें पंथ का मतलब ही पता नहीं है।

वह इस बात को बार-बार दुहराते हैं कि राजनीति को जीवन की अनन्यतम गहराई से अलग नहीं किया जा सकता। मैं तब तक एक धार्मिक जीवन नहीं जी सकता, जब तक पूरी मानवता के साथ स्वयं का तादात्म्य न स्थापित कर लूं और मैं ऐसा तब तक नहीं कर सकता जब तक राजनीति में मेरी सहभागिता न हो। पूरी मानवता की गतिविधियां अब अविभाजित सम्पूर्णता में निहित है। मैं गतिविधियों से परे किसी धर्म को नहीं जानता।

इस संदर्भ में गांधी की सबसे बडी मान्यता यह थी कि राजनीतिक शक्ति आंतरिक शुचिता और संकल्प की शुद्धता पर निर्भर करती है। षड्यंत्रों और दांव-पेचों का पर्याय माने-जाने वाली राजनीति को आंतरिक शुचिता से जोड़ने का कार्य गांधी ने केवल सैद्धांतिक स्तर पर नहीं किया बल्कि उन्होंने इस सूत्र को अपने जीवन में भी धारण किया। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि राजनीति एक ऐसा दैनंदिन कर्म है, जिसको न्यायपूर्ण और उचित ढंग से नियंत्रित किया जाना आवश्यक है। जिस अनुपात में आंतरिक शुद्धता बढ़ती है, उसी अनुपात में हमारी लोगां पर हमारा प्रभाव भी बढ़ता जाता है। और इसके लिए अपनी तरफ से किसी अन्य प्रयास की जरूरत नहीं होती।

भारतीय राजनीति के जिस कालखण्ड को हम गांधी-युग कहते हैं, वह नैतिक बल से राजनीति को संचालित करने के प्रयासों का दौर है। इस प्रयास में कितनी सफलता सफलता-असफलता मिली, इस पर मतभेद हो सकता है। लेकिन यह एक अकाट्य सत्य है कि इस कालावधि में राजनीति पर नैतिक मूल्यों की छाप और प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

यदि राजनीति की भारतीय परम्परा और धर्म के साथ उसके अंतर्सम्बंधों को खंगालने का प्रयास करें तो गांधी त्यागपूर्ण-नैतिक राजनीति के आग्रह को आसानी से समझा जा सकता

है। गांधी के चिंतन पर महाभारत के शांतिपर्व के प्रभाव को स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है। भीष्म शांतिपर्व में राजधर्म को जिस तरह से परिभाषित करते हैं उसका सार-संक्षेप यही है कि राजधर्म एक ऐसी पवित्र धुरी है, जिस पर धर्म की अन्य धुरियां आश्रित हैं। यदि राजधर्म का निर्वहन ठीक ढंग से नहीं होता तो अन्य धर्मों का सम्यक निर्वहन करना असम्भव हो जाता है। भीष्म का दूसरा आग्रह यह है कि राज्यकर्म का संचालन सजग और अलिप्त भाव से ही करना चाहिए। राजसत्ता का संचाल भोगभाग से योगभाव से किया जाना चाहिए।

एम.आर.जयकर तो पश्चिमी लोगों को सम्बोधित करते हुए यह स्पष्ट कहते भी हैं कि गांधी की राजनीति पर नेतृत्व की पुरानी भारतीय परम्परा की स्पष्ट छाप दिखती है। यह यूरोप की समझ से पूरी तरह भिन्न है। हम भारतीय आसानी से इसे समझ सकते हैं।

यंग इडिया में वह अपनी राजनीतिक सक्रियता और स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी सक्रिय भूमिका के कारणों की तरफ खुले मन से और स्पष्ट रूप संकेत करते हैं। उनकी मान्यता है कि मुक्ति की साधना एकांत में नहीं हो सकती। लोगों के बीच रहकर और लोगों के लिए काम करने पर ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

गांधी कहते हैं कि मैं इसी शरीर से मोक्ष प्राप्त करने के लिए अधीर हूं। मेरी राष्ट्रसेवा, मेरी आत्मा पर पड़े बंधनों को तोडने की दिशा में किया गया प्रयास ही है। इस तरह मेरी राष्ट्रसेवा को विशुद्ध रूप से स्वार्थ भी माना जा सकता है। मैं चाहूं तो ऐसा कर सकता हूं। लेकिन गुफा में रहकर भी कोई हवाई किले बना सकता है, जबकि जनक की तरह राजमहल में रहने वालों को इस तरह हवाई किले बनाने की जरूरत नहीं पड़ती।.......मुझे अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किसी गुफा में शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। ....मेरे लिए मुक्ति का मार्ग राष्ट्र की सेवा के लिए किए गए कठिन श्रम से ही निकलेगा।

गांधी की राजनीति और धर्म की अपृथक्करणीयता की मान्यता राजधर्म की संकल्पना से निकली है। राजधर्म, धर्म की वृहद संकल्पना का अंश भर है। ऐसे में गांधीवादी परिप्रेक्ष्य में निषेधात्मक पंथनिरपेक्षता के लिए कोई स्पेस बचता नहीं। विशेषाधिकारवादी वर्तमान पंथनिरपेक्षता को तो एक तरह से गांधीवादी चिंतन के एकदम विपरीत ही माना जा सकता है। अधिक से अधिक सर्वधर्म समभाव में विश्वास रखने वाली पंथनिरपेक्षता को ही गांधी के धर्म-प्रेरित राजनीति में स्वीकार किया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि क्या राजधर्म की परम्परा से निकले गांधी के चिंतन के लिए वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया में कोई स्पेस बचा है? राजधर्म और पंथनिरपेक्षता की प्रचलित अवधारणा

विपरीत धुरियां हैं। दुर्भाग्य यह है कि राजधर्म को समझे बगैर ही कुछ शक्तियां राजधर्म के निर्वहन का उपदेश देती हैं, मानो राजधर्म विकृत पंथनिरपेक्षता का सुरक्षाकवच हो। वर्तमान राजनीतिक प्रक्रिया में राजधर्म की भावना का निवेश समय की आवश्यकता है। राजधर्म का निवेश, वृहत्तर धर्म को भी स्थापित करेगा और इसी के साथ सभ्यता-संस्कृति-राष्ट्र भी अपने गौरव के साथ पुनःप्रतिष्ठित होंगे। बड़ी बात यह है कि राजनीति में राजधर्म के निवेश की नजदीकी खिड़की गांधी ही हैं।

सम्मोहन नहीं, सृजन और संकल्प चाहिए

महात्मा गांधी का आकलन सम्मोहन की स्थिति में करना गांधीवादी सत्य के साथ अन्याय करने जैसा होगा। यह सम्मोहन उनके पक्ष में भी हो सकता है और उनके विपक्ष में भी। सब-कुछ हां या ना में देखने वाली दृष्टि प्रायः घटनाओं को एक प्रक्रिया के रूप में नहीं देखती। इस कारण, किसी घटना को लेकर झट-पट अपने निष्कर्ष निकाल लेती है। जबकि होता यह है कि व्यक्ति की मान्यताएं-स्थापनाएं एक देश-काल में अभिव्यक्त होती हैं और इस कारण शत-प्रतिशत शुद्ध रूप में किसी व्यक्ति की आस्था-मान्यता का अभिव्यक्त होना असंभव ही है। सार्वजनिक जीवन में तो आस्थाओं-मान्यताओं के विशुद्ध रूप में अभिव्यक्त होने की संभावना शून्य ही रहती है।

गांधी को जो देश-काल मिला था, उस समय भारत का राष्ट्रीय और सांस्कृतिक-बोध रसातल में पहुंच चुका था। सार्वजनिक जीवन में भारतीयता और भारतीय शब्दावली का राजनीति की मुख्यधारा में उपयोग लगभग वर्जित था। जो राजनेता ऐसा करते थे, उन्हें प्रतिगामी, पिछड़ा कहकर हासिए पर धकेल दिया जाता था। गांधी इस देश काल की सीमा में भारत और भारतीयता के प्रतीक बने। इसलिए उनमें सनातन धर्म के सारे मूल्यों की खोज करना या भारतीयता की सर्वोत्कृष्ट आदर्शों की अपेक्षा करना भी बेमानी है।

विभाजन के दौरान गांधी को 'वन मैन आर्मी' कहा गया था। लेकिन सांप्रदायिकता के संदर्भों में ही नहीं अन्य बहुत सारे क्षेत्रों में गांधी 'वन मैन आर्मी' थे। भारतीयता को समझने उसके अनुसार रणनीति बनाने और सही ढ़ंग से उसके क्रियान्वयन के मोर्चे पर भी गांधी 'वन मैन आर्मी' के तौर पर कार्य कर रहे थे। उन्हें एक ऐसा जनमानस मिला था, जो गरीब और निरक्षर था। जो लगभग बारह सौ सालों से निरंतर विदेशी आक्रांताओं से जूझ रहा था। इतने लंबे संघर्ष के कारण उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाएं ध्वस्त हो चुकी थी। इस समाज का आत्मबल भी प्रायः समाप्त हो चुका था। ऐसे समाज से संवाद करना, देशभक्ति और सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर आग्रह करना एक जटिल और दुरूह कार्य था। उन्होंने

राष्ट्रीय संघर्ष के लिए भारतीय मूल्यों का उपयोग किया। गांधी ने इस चुनौती को न केवल स्वीकार किया बल्कि एक हद तक इसे अंजाम तक भी पहुंचाया।

भारतीय जनमानस में गहराई तक धंसे आदर्शों एवं शब्दावली को नए संदर्भों में स्थापित करना, भारतीयों में आत्मबल भरने को एक महा-अभियान के तौर पर लेना चाहिए। वह प्रतीकों में निहित सामर्थ्य को अच्छी तरह से जानते थे। उनका बहुत सटीक ढंग से उपयोग किया। लेकिन प्रतीकों की लड़ाई की अपनी सीमाएं तो होती है, गांधी की कार्य-शैली में भी वैसी सीमाएं दिखती हैं।

देश-कालगत बाध्यताओं, दार्शनिक अपूर्णताओं एवं रणनीति-गत सीमाओं के बावजूद गांधी समकालीन परिस्थितियों में प्रस्थान बिंदु हैं। आज भारत के पास अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास से भरा हुआ युवा है, भारत-भारतीयता को लेकर शोध की एक श्रृंखला जन्म ले रही है, रणनीति को अपने मूल्यों से जोड़ने का काम अधिक सृजनात्मक तरीके से हो रहा है, तो इसका मतलब यह नही कि गांधी के पक्ष या विपक्ष में सम्मोहित होकर ही विचार किया जाए। उसे एक-दम से स्वीकार कर लिया जाए या सिरे से नकार दिया जाए। यह सरल कार्य है। लेकिन ऐसा करना इतिहास के प्रति असम्मान जैसा होगा और इतिहास को झुठलाना हमेशा स्वयं के लिए ही नुकसानदायक होता है।

गांधी उन विलक्षण नेताओं में से एक थे जो एक साथ ही राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर सक्रिय थे। और उनकी उपस्थिति की तीव्रता इन तीनों क्षेत्रों में समान रूप से महसूस की जा सकती है। केवल उपस्थिति ही नहीं हर जगह भारतीयता का आग्रह भी स्पष्ट रूप से दिखता है। संभवत इसी कारण उन्हें भारतीय समाज में इतनी गहरी स्वीकृति मिली।

गांधी का भारतीय चित्ति के साथ एक हद तक तादात्म्य है। इसी कारण वह भारतीय जनमानस का व्यापक स्तर पर संवेदित कर, अपने संदेशों को सफलता के साथ लोगों तक पहुंचा पाए। यदि कहीं भारतीय चित्ति और गांधी के चिंतन में तादात्म्य नहीं दिखता, तो वह त्यागा जा सकता है। लेकिन यहीं पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा है। वह यह कि क्या अब तमाम दावों के बावजूद भारतीय चित्ति के साथ भारतीय जनमानस का तादात्म्य बढ़ा है? क्या तकनीकी प्रभावों ने और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय चित्ति को लोगों की आंखों से और भी ओझल नहीं कर दिया है? प्रश्न तो यह भी उठता है कि जो आवाजें गांधी के पक्ष या विपक्ष में उठती हैं, उनकी जीवनशैली और जीवन दर्शन में भारतीय चित्ति को कितना स्थान मिला हुआ है? गांधी को सिरे से खारिज करने वाली आवाजों को एक बार ठंडे दिमाग से

यह जरूर सोचना चाहिए कि उनके भावुक नारों के कारण कहीं भारतीय चित्ति और सनातन धारा को ही तो नुकसान नहीं पहुंच रहा है? गांधी को उस अनुपात में तो स्वीकार किया ही जाना चाहिए जितना उनका भारतीय चित्ति के साथ तादात्म्य है।

गांधी यह सिखाते हैं कि सनातन की आराधना कोई कालवाह्य होने-पाने आराधना नहीं है। अनुभूति के स्तर पर सनातन तत्व काल वाह्य हो सकता है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति समय सापेक्ष ही होगी। देश काल की सीमा में आने के बाद सनातन की संपूर्णता भी प्रभावित होती है, और कुछ हद तक वह सीमित हो जाता है। सनातन का अनुभव एवं अभिव्यक्ति में जिस स्तर तक समानता रहती है, भारतीय चित्ति उस स्तर तक ही व्यक्ति की उत्कृष्टता को स्वीकार करती है। उसके जीवन को प्रामाणिक मानती है। सामान्य शब्दों में इसे मन-वचन-कर्म की ऐक्य के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

सनातन की समय सापेक्ष साधना के प्रतीक हैं महात्मा गांधी। इस प्रक्रिया में उनकी तमाम सीमाएं स्पष्ट हैं, फिर भी इस साधना में गांधी से जो सूत्र मिलता है, वह एक तरह से आत्म-संधान का सनातन मूल्य है। गांधी निरंतर सृजनशील हैं, और अपनी मान्यताओं के लिए संकल्प-बद्ध भी। वह बन बनाए रास्ते पर नहीं चले। व्यक्ति की अद्वितीयता, मार्ग की अद्वितीयता की भी मांग करती है। उन्होंने अपने रास्ते बनाने की कोशिश की। उपलब्ध संसाधनों का सृजनात्मक उपयोग किया और लक्ष्य को लेकर संकल्प-बद्ध भी रहे।

संकल्प और सृजन इस सृष्टि की सर्वाधिक मूलभूत प्रक्रियाएं हैं। इन्हीं के आधार पर सृष्टि अस्तित्व में भी आती है, और संचालित भी होती है। गांधी के जीवन में भी यह दोनों मूल्य बहुत स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। उनसे संकल्प और सृजन का बोध अपनाने के बाद उनकी सीमा-सामथ्र्य की चर्चा के लिए खुला स्पेस देने के लिए परहेज करने का कोई कारण नजर नहीं आता।

सनातन सन्दर्भों में गांधी की प्रासंगिकता

गांधी की प्रासंगिकता सनातन के बारे में हमारी समझ पर निर्भर करती है। यदि सनातन की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को अपरिवर्तनीय, रूढ़ और ठहरा हुआ मान लिया जाए तो गांधी की प्रासंगिकता का अलग चित्र उभरेगा। इसके उलट यदि सनातन को केवल अनुभूति के स्तर पर ही स्थिर और अभिव्यक्ति के स्तर पर गतिशील माना जाए तो गांधी की प्रासंगिकता का दायरा निश्चित रूप से अलग होगा।

गांधी के संदर्भों में सनातन की संकल्पना इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि भारतीय मनीषा का एक वर्ग समय और सनातन को विरोधी मानता है। इस वर्ग के अनुसार, सनातन अर्थात वह जो समय निरपेक्ष है, कालवाह्य है, जिसमें कभी भी बदलाव नहीं होता। दूसरा वर्ग मानता है कि सनातन का एक पक्ष कालवाह्य होता है और वह चिंतन और अनुभूति के स्तर पर काल की सीमाओं से परे होता है।

दूसरा हिस्सा काल सापेक्ष होता है। युग और समय के अनुकूल वह नए-नए रूपों में अभिव्यक्त होता है। सनातन का अन्तस स्थिर होने के बावजूद उसका वाह्य स्वरूप नए स्वरूप धारण करता रहता है, यही सनातन का सौंदर्य है- क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैती तदेव रूपं रमणीयतायाः।

सनातन की पहली धारा स्वयं की मुक्ति तक सीमित होती है और सामाजिक स्थितियों में बदलाव लाने की कोशिश नहीं करती, और दूसरी धारा सनातन की अनुभूति के बाद उसे व्यवस्था में स्थापित करने का प्रयास करती है। वर्तमान में पहली धारा अधिक प्रभावी दिखती है, लेकिन परम्परागत रूप से सनातन की दूसरी धारा को अधिक सम्पूर्ण माना जाता है। श्रीराम और श्रीकृष्ण इसीलिए सनातन के सबसे सशक्त प्रतीक बन सके क्योंकि उन्होंने सनातन को अनुभूति के स्तर पर धारण करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों में अनुकूल ढलकर, उसे व्यवस्था में उतारने का भी प्रयास किया।

भारतीय परम्परा में सनातन को सामयिक बनाने का सामर्थ्य ही सबसे बड़ा सामर्थ्य बन

जाता है। सनातन को सामयिक स्वरूप देना सबसे बड़ी सृजनात्मकता और सनातन व समय के अंतःसूत्रों को पकड़ना और तदनुरूप आचरण करना ही धर्म बन जाता है।

गांधी को सनातन की दूसरी परम्परा में ही ठीक ढंग से समझा जा सकता है। उन्होंने अपना पूरा जीवन सनातन को सामयिक स्वरूप देने में लगाया। सनातन और समय के बीच संवाद-सूत्र गढ़ने की कोशिश की। राजनीति के बारे में उनका दृष्टिकोण सनातन की इसी दूसरी परम्परा पर आधारित था। वह राजनीति को एक धार्मिक कार्य के रूप में स्वीकार करते थे और यह मानते थे कि राजनीति जनसेवा का सबसे सशक्त और व्यापक प्लेटफॉर्म है।

गांधी प्रयोगों में विश्वास करते हैं, इसलिए वह हमेशा प्रवाहमान दिखते हैं। यह प्रवाह कई बार विरोधाभासों के स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित है। मसलन असहयोग आंदोलन के दौरान वह एक छोटी सी हिंसा पर आंदोलन रोक देते हैं, लेकिन भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान न केवल करो या मरो का नारा देते हैं, बल्कि बड़े पैमाने पर होने वाली हिंसा पर भी मौन साध जाते हैं।

अस्पृश्यता के खिलाफ व्यापक पैमाने पर आंदोलन चलाने के बावजूद खुद को वर्ण औऱ जाति व्यवस्था का समर्थक बताते हैं। पश्चिमीकरण और मशीनीकरण का धुरविरोधी होने के बावजूद उसके प्रबल पैरोकार पं. नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी चुना।

वह समाज की नब्ज को पकड़ने वाले और उसके अनुसार अपनी रणनीति तैयार करने वाले जननेता थे। इसलिए जनता की मानसिकता में होने वाले बदलावों या विरोधाभासों का असर उनकी नीतियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वह एकांगी संत नही थे। वह आदर्शों की बात करने के साथ उस आदर्श को जमीन पर उतारने के लिए अपनी भूमिका की तलाश भी करते थे।

उन्होनें उस समय जो राजनीतिक उपकरण तैयार किए थे, आंदोलनों की रूपरेखा गढ़ी थी, वह सनातन मान्यताओं को समय की मांग के अनुकूल ढालने के प्रयास भर माने जा सकते हैं। जैसा देश-काल उनको मिला था, जो उसके गुण-दोष थे, वह उनकी रणनीतियों में भी दिखते हैं। यदि आज का देश-काल उन्हें मिला होता, तो सनातन को सामयिक बनाने का प्रयास नए रूप में हमारे सामने आता। उस समय उन्होनें भारत में हो रहे औपनिवेशिक सभ्यतागत संहार और उत्पीड़न के खिलाफ सत्याग्रह किया था। आज वह जीवित होते तो संभवतः मीडिया के मोर्चे पर सत्याग्रह कर रहे होते। मीडिया ने खुद को जिस तरह से उपभोक्तवाद के उपकरण के रूप में तब्दील किया है, उसकी शक्तियों में जिस कदर इजाफा हुआ है और वह हमारी प्राथमिकता और पसंद को निर्धारित कर रहा है और इस शक्ति का

उपयोग वह जिस तरह से उपभोग को चरम मूल्य के रूप में स्थापित करने के लिए कर रही है, वह उदात सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। इसे भी किसी देश का सभ्यतागत और सांस्कृतिक संहार ही माना जाना चाहिए। सभ्यता को खतरा प्लांटेड न्यूज और फेक न्यूज से भी है। इसलिए भी गांधी फेक न्यूज रैकेट के खिलाफ सत्याग्रह का आह्वान जरूर करते। आज के दौर में मीडिया के मोर्चे पर गांधी की सक्रियता सर्वाधिक होती।

गांव और कृषि गांधी जी के प्रिय विषय रहे। कई क्षेत्रों में भारत आज उम्मीदों पर सवार है, लेकिन कृषि और गांव की हालत से कोई अच्छी उम्मीद नहीं उभरती। उनकी मानसिक बुनावट को ध्यान में रखे तो यह संभावना बनती है कि वह आज प्राकृतिक या जैविक खेती के लिए आज नए प्रयोग कर रहे होते। और संभवतः गांव और कृषि को पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रयास में गो-पालन और गो-संवर्धन के प्रयास को वह केन्द्रीय भूमिका में रखते।

वैश्वीकरण की अबाध प्रक्रिया और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की धमक के बीच वह स्वदेशी को नए कलेवर में परोसने का प्रयास करते। एक ऐसे दौर में जब किसी उत्पाद के कल-पुर्जे कहीं और बन रहे हैं, उनकी असेम्बलिंग कहीं और हो रही है और उत्पाद बिक कहीं और रहा है, वह स्वदेशी को किस तरह परिभाषित करते यह देखना रोचक होता।

सबसे बड़ी बात यह है कि गांधी ने सभ्यताओं के मध्य समानता और संवाद की जो लाइन ली थी, उसको लेकर उनका नया नजरिया क्या होता? क्योंकि सेमेटिक पंथों में समानता और संवाद के लिए जगह ही नहीं बची है। सेमेटिक सभ्याताएं वास्तविक संवाद में विश्वास नहीं करती यह तथ्य पूरी तरह स्थापित हो चुका है। संवाद क्यों नहीं हो सकता? इसके कारण भी दुनिया के सामने अब अधिक स्पष्ट होकर आ चुके हैं। खुद को एकमात्र और अंतिम सच मानने का विश्वास समानता और संवाद की गुंजाइश ही नहीं छोड़ता। गांधी के "ईश्वर अल्लाह तेरो नाम" के राग का सकारात्मक प्रतिउत्तर न तो तब मिला था और न ही आगे मिलने की संभावना है। ऐसे में गांधी सभी पंथों को समान मानने के अपने सिद्धांत में किस तरह शोधन करते, करने को तैयार भी होते कि नहीं? यह भी गांधी के आकलन का एक महत्वपूर्ण बिंदु है।

वर्तमान स्थितियों में गांधी को अपनी एक अन्य मूल मान्यता की भी समीक्षा करनी पड़ती। आज के दौर में सत्य और अहिंसा की उनकी मूलभूत मान्यता पर भी प्रश्न उठते ही। गांधी सत्य को ईश्वर स्वरूप मानते थे। यह किसी भी सभ्यता व किसी भी चिंतन द्वारा सत्य को प्रदान की जाने वाली श्रेष्ठतम गरिमा है। लेकिन इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि गांधी ने सत्य को अहिंसा के दायरे में बांधने की कोशिश की। उनको वही सत्य स्वीकार था, जो

अहिंसा की परिधि में आता हो। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण और समग्र सत्य किसी सीमा में नहीं बंध सकता। हिंसा भी एक सत्य है और उसके अस्तित्व को नकारना एक तरह से असत्य को स्वीकार करने जैसे है। प्राणियों एवं मनुष्यों के अस्तित्व के बुनावट का हिंसा एक अभिन्न हिस्सा है। इसलिए सत्य को अहिंसा की परिधि में बांधना सत्य को अपनी सुविधा के अनुसार स्वीकार करने जैसा है।

सभी सभ्यताओं को मूलभूत समान मानने, अहिंसा को सत्य के ऊपर रखने की सीमाओं के बावजूद गांधी आज भी भारत की सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिए प्रस्थान बिंदु बन सकते हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, भाषा का प्रश्न, गोसंरक्षण, गोसंवर्धन इत्यादि भारत और भारतीयता से जुड़े मूलभूत प्रश्नों गांधी की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। उन्हें एक दीन-हीन, आत्म-विस्मृत, आत्म विश्वास से हीन एक ऐसा समाज मिला था, जिसका निरंतर संघर्षों के कारण ओज-क्षय हुआ था। उनकी सम्पूर्ण रणनीतियां इस आत्म-विस्मृत, आत्म-अविश्वासी समाज में विश्वास भरने के लिए थी। आज वही समाज आत्म-विश्वास से लबरेज होकर इनके लचीले व्यक्तित्व का कारण पूछ रहा है तो यही गांधी की सफलता है और इसी तथ्य में उनकी प्रासंगिकता भी छिपी हुई है।

शिक्षा क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका
राष्ट्रीय छात्रशक्ति

लेखक-परिचय

जयप्रकाश सिंह अपनी संनीति की संकल्पना के लिए जाने जाते हैं।वह व्यवस्था संचालन की सनातन संकल्पनाओं -राजधर्म और संवाद परम्परा को सामयिक स्वरूप देने के लिए प्रयासरत हैं। साहित्य और सिनेमा में गहरी रुचि रखने वाले डॉ. सिंह दिव्य हिमाचल समाचार पत्र में बतौर फीचर सम्पादक कार्य कर चुके हैं। सम्प्रति हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय में पत्रकारिता और जनसंचार के असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। सभ्यतागत और अंतर-पांथिक संचार, देशज और लोक संचार उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्र है।

प्रकाशक

राष्ट्रीय छात्रशक्ति

२६, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग नई दिल्ली-११०००२

मूल्य : ₹40/-